वेद-गीताञ्जलि

सत्यकाम विद्यालङ्कार

कुसुमलता आर्य-प्रतिष्ठान

वेद-गीताञ्जलि

सत्यकाम विद्यालंकार

प्रकाशक :

कुसुमलता आर्य-प्रतिष्ठान

4/42 सैक्टर - 5 राजेन्द्र नगर,

साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ०प्र०)

सम्पादक : विद्यामार्तण्ड स्वामी दीक्षानन्द सरस्वती

प्रकाशक : कुसुमलता आर्य प्रतिष्ठान
४/४२, सेक्टर-५, राजेन्द्र नगर,
साहिबाबाद-२०१००५
गाजियाबाद (उ०प्र०)
दूरभाष : ०५७५-४६२३०२६

संस्करण : प्रथम, सन् २००२ ई०

प्राप्ति स्थान : १. समर्पण शोध संस्थान
४/४२, सेक्टर-५, राजेन्द्र नगर,
साहिबाबाद-२०१००५
गाजियाबाद (उ०प्र०)
२. विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११० ००६

मूल्य : ८०.०० रुपये

शब्द संयोजक : भगवती लेज़र प्रिंट्स
ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-११० ०६५

मुद्रक : राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली-११० ०३१

संत, कविहृदय

श्री सत्यकाम विद्यालंकार

दीनानाथ मल्होत्रा

सत्यकाम जी के पिता श्री धनीरामजी थापर लुधियाना के जाने माने नामी वकील थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा रौबीला था और कचहरियों में उनके काम की धाक थी। उन्होंने अपने पुत्र सत्यकाम जी को गुरुकुल कांगड़ी में वेदानुसार विद्या ग्रहण करने के लिए इसलिए भेजा कि उनके ससुर अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद थे। उन्होंने वैदिक रीति के अनुसार गुरुकुल की स्थापना की और सबसे पहले अपने पुत्र, पौत्र, नातियों को वहाँ प्रवेश कराया, ताकि लोगों में विश्वास हो कि जब इतना बड़ा आदमी अपने बच्चों को वहां शिक्षा दे रहा है, तो उसमें कुछ तत्व होगा ही। आजकल की तरह अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में भेज कर वैदिक और देशी स्कूलों का प्रचार करने वाले लोग तब नहीं होते थे। जो वे कहते थे, वही करते थे।

स्वामी श्रद्धानंद जी वही वीर संन्यासी थे, जिन्होंने चांदनी चौक में गोरे फौजियों की संगीनों के सामने छाती तान दी थी कि–अगर चाहते हो, तो जनता की ओर जाने से पहले इस संन्यासी पर प्रहार करो। संगीनें झुक गई थीं और श्रद्धानंद जी दिल्ली के बेताज बादशाह बन गए थे।

गुरुकुल का संस्कार : गुरुकुल कांगड़ी के स्वच्छन्द

वातावरण में गंगा के किनारे सत्यकाम जी ने शिक्षा पाई। उस समय के शिक्षक भी बड़े विद्वान् एवं समर्पित थे। वहां से निकले स्नातक जहाँ भी गए, उन्होंने नाम पाया। इस गुरुकुल पद्धति को देखने भारत के तत्कालीन वायसराय भी गए थे कि यह कैसा स्थान है, कैसी शिक्षा द्वारा ही ऐसे लोग बनेंगे, जो देश को हर क्षेत्र में ठीक दिशा देंगे।

उन दिनों १४ वर्ष की पढ़ाई, गुरुजनों के साथ जंगलों में विचरण करना, खूब हिम्मत और साहस से भरी हुई गंगा को पार कर जाना, फिर वैदिक शास्त्रों की शिक्षा के साथ-साथ पश्चिम के दर्शन शास्त्र, अंग्रेजी आदि भी पढ़ना—इन सबके कारण सत्यकाम जी का व्यक्तित्व ओजस्वी था। ऊँचा कद, चेहरे पर तेज और सादगी का लिबास उनकी अत्यंत मृदुल वाणी, आदर्श व स्नेहवृत्ति का स्वभाव चाहे कोई बच्चा हो, चाहे तरुण या प्रौढ़, उनका हर एक से सहज सामंजस्य बन जाता था। सभी उनसे मिल कर प्रभावित होते थे। ऐसे पारदर्शी हृदय वाले व्यक्ति कम देखने को मिलते हैं।

श्रेष्ठ पत्रकार : उन्होंने अपना जीवन पत्रकारिता से शुरू किया और जीवन भर पत्रकारिता में नए आयाम स्थापित किए। तो अपने लेखों के कारण अंग्रेजों के राज्य में उन्हें जेल भी जाना पड़ा।

स्वतंत्रता संग्रामी परिवार : सत्यकाम जी की बड़ी बहिन भी स्वतंत्रता सेनानी थीं। श्रीमती सत्यवती जी उस समय की कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की नेता थीं और उस समय के दिल्ली के बड़े नेताओं में उनकी गिनती होती थी। उनके नाम से आज तक सत्यवती कालेज भी दिल्ली में चलता है।

वैदिक मनीषी : सत्यकाम जी ने स्वयं बहुत सी पुस्तकें लिखीं, परंतु उनकी रुचि सबसे अधिक वैदिक साहित्य में

थी। उन्होंने जो काम वेदों के अंग्रेजी अनुवाद में किया, वह एक ऐतिहासिक काम है। स्वामी सत्यप्रकाश जी के साथ मिलकर चारों वेदों का हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद किया। इस अनुवाद की बड़ी खूबी यह थी कि यह कवितामय था, जैसे वेदवाणी काव्यमय है, वैसे ही उनकी भाषा थी। उन्होंने जो पुस्तकें लिखीं, उनमें उल्लेखनीय हैं–वेद गीतांजलि, सफल जीवन, चरित्र निर्माण, जीवन साथी, सोमा, एक प्रेयर ए डे, ग्लीनिंग्स फ्राम वेदाज, चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा अन्य कई।

एक पुस्तक जो उन्होंने बहुत अनूठी लिखी, वह अंग्रेजी की 'होली वेदाज़' है। चारों वेदों के चुने हुए मंत्रों को लेकर उनका अंग्रेजी भावानुवाद किया और साथ ही हर मंत्र के साथ प्रसिद्ध फोटोग्राफरों के ऐसे चित्र चुने, जो उस मंत्र के अर्थ को साकार करते थे।

'धर्मयुग' और 'नवनीत' के सम्पादक : सत्यकाम जी के जीवन के बहुत से वर्ष मुम्बई में बीते। वहाँ उनका सबसे महत्वपूर्ण समय वह था, जब वे बहुत वर्षों तक 'टाइम्स आफ इंडिया' द्वारा चलाई गई साप्ताहिक हिंदी पत्रिका 'धर्मयुग' के संपादक रहे। उन्होंने 'धर्मयुग' को सचमुच एक ऐसा आदर्श पत्र बनाया, जिसको देखकर और लोगों ने प्रेरणा प्राप्त की।

वर्षों 'धर्मयुग' के संपादन के बाद इन्होंने हिन्दी मासिक पत्रिका 'नवनीत' का सम्पादन सम्भाला और उसको नई दिशा दी। 'नवनीत' एक प्रकार से हिन्दी के 'रीडर्स डाइजेस्ट' का प्रतिरूप था। उनके हर चिंतन में एक नीवनता होती थी।

उन्होंने एक पत्रिका 'आपबीती' स्वतंत्र रूप से निकाली। यह भारत में पहला प्रयोग था, जिसमें आत्मकथात्मक ढंग से बहुत-सी समस्याओं को लेकर उन पर लेख और कहानियां

छपती थीं। 'आपबीती' का रंग रूप, आवरण, अंदर का संवरण इतना बढ़िया था कि लोग चकित रह जाते थे। इन सब कामों को करते हुए कई वर्ष तक वे केंद्रीय फिल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य रहे। वहाँ भी इन्होंने शुद्ध परम्पराएं स्थापित कीं–बहुत से विरोध और कठिनाइयों के बावजूद, परंतु इनकी बात को सब आदर से सुनते थे। ये निर्भीक पत्रकारिता का एक जीता-जागता मूर्तिमान स्वरूप थे।

वेद सुधा : एक काम, और वह भी बिल्कुल एक नया प्रयोग यह था कि 'वेद सुधा' नाम से एक स्थान इन्होंने स्थापित किया, जिसमें वेदमंत्रों का प्रदर्शन संगीत व ललित कलाओं के द्वारा किया जाता था। उसमें लय, स्वर, विधान और मुद्राओं का इन्होंने स्वयं निर्देशन किया, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई।

स्वभाव से मितभाषी और स्वयं में प्रसन्न रहने वाला इनका अनोखा व्यक्तित्व था। जिन उपाधियों से गुरुकुल कांगड़ी, आर्य समाज सांताक्रूज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि ने इन्हे सम्मानित किया, उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं 'साहित्य वाचस्पति', 'वेद मनीषी' और 'वेद मार्तण्ड'। इन तीनों से बोध होता है कि साहित्य में, वेदों की विवेचना में एवं विद्या के क्षेत्र में वे गहन विद्वान् थे।

भावुक दानी : अपनी घोर आदर्शवादिता एवं सांसारिक अव्यावहारिकता के कारण जीवन में कठिनाइयाँ भी आती थीं। एक बार ये अपने कार्यालय से वेतन लेकर घर आ रहे थे, तो किसी परिचित लेखक ने इनसे कहा कि मैं आपके साथ चाय पीना चाहता हूँ, कहीं बैठ जाते हैं। किसी अल्पाहार गृह में बैठ गए। वहाँ पर उस व्यक्ति ने अपनी कठिनाइयों का इतना अधिक ब्यौरा इनको दिया और रोना शुरू कर दिया कि

मेरे घर में तो खाने को कुछ भी नहीं है। पत्नी भी बीमार है और बच्चों की फीस भी देनी है। द्रवित होकर इन्होंने अपना आधा वेतन उसे दे दिया। परन्तु उसने बातचीत करके बाकी का आधा पैसा भी ले लिया और ये खाली हाथ वापस आ गए। घर पहुंचे, तो पत्नी ने कहा कि आज आप वेतन लाए होंगे। ये चुप रहे। अंत में इनको बात बतानी पड़ी, तो जो कुछ इनकी गति हुई होगी, लोग समझ सकते हैं।

सन्तों का सा अंत : मार्च १९९१ में ८७ वर्ष की आयु में सत्यकाम जी का देहावसान हुआ। इनका देहान्त भी सन्तों जैसा हुआ। १४ मार्च के दिन सैर करके आए, बिस्तर पर लेट गए और थोड़ी देर के बाद प्राण छोड़ दिए। मृत्यु से एक दिन पूर्व इन्होंने एक बहुत मार्मिक कविता लिखी, जो मृत्यु का स्वागत करती थी। एक दिन पूर्व ही इन्होंने 'नवनीत' के लिए उसे डाक द्वारा भेज दिया था, जो उनकी मृत्यु के बाद छपी।

दानवीर लाला दीवानचंद जी

व्यक्तित्व और कृतित्व

विश्वनाथ, अध्यक्ष : लाला दीवानचंद ट्रस्ट
उपप्रधान : आर्य प्रादेशिक सभा

कल्पना कीजिये ऐसे व्यक्ति की जो एक पिछड़े गांव में, साधारण से आभवग्रस्त परिवार में जन्म लेता है, जिसके सिर से उसके माता-पिता की छाया ६ वर्ष की आयु में ही नहीं रहती, जो परिस्थितियों के कारण गांव के स्कूल में केवल तीसरी कक्षा तक ही पढ़ पाता है—ऐसा अनाथ बालक कठिन, विषम परिस्थितियों का सामना करके एक दिन भारत की राजधानी, दिल्ली के सबसे प्रसिद्ध, संभ्रात और धनी नागरिकों में गिना जाता है और जिसका यश, धन-सम्पदा से कहीं अधिक उसकी समाजसेवा और दानवीरता के कारण चर्चित होता है। ऐसे ही व्यक्ति थे लाला दीवानचंद जी अपनी लाखों की सम्पत्ति जो आज करोड़ों की है, सार्वजनिक हित के लिए ट्रस्ट बनाकर छोड़ गये। कहा जाता है कि काया न रहने पर भी मनुष्य जीवित रहता है—अपने यश और कीर्ति द्वारा। दीवानचंद जी का यश आज भी जीवित है, उनके द्वारा स्थापित अथवा संवर्धित अनेक जन-हितकारी योजनाओं के

माध्यम से।

विधि की विडंबना कि लाला दीवानचंद जी को विधाता ने केवल ४५ वर्ष की आयु दी। २४ सितम्बर, १८८५ को उनका जन्म हुआ और ४ फरवरी, १९३० को पेशावर में अपने ससुराल में निधन। इतनी छोटी आयु में अभाव और निर्धनता की भट्टी में तपकर छोटी-बड़ी नौकरियां करते हुए अंततः दिल्ली में आकर उन्नति और उत्कर्ष की चरम-सीमा को छू लिया। इस छोटे से जीवन में उन्हें अनेक दारुण-दुख झेलने पड़े—शैशव में माता और पिता की मृत्यु, विवाह के उपरांत दोनों सन्तानों, पुत्र और पुत्री की असामयिक मृत्यु, इस बीच मित्र द्वारा विश्वासघात और अंतमें दिल्ली अपने वैभवशाली घर से दूर घोर शारीरिक कष्ट में मृत्यु की त्रासदी। इतिहास में ऐसे अनेक महान् व्यक्ति हो गये हैं जिन्होंने अपनी छोटी आयु में ही बहुत बड़े काम किये, भले ही उनका निजी जीवन एक के बाद अनेक दुखद दैवी आपदाओं मे बीता हो। ऐसा क्यों होता है, इस क्यों का उत्तर खोज पाना कठिन है।

दीवानचंद जी का जन्म झेलम नदी के किनारे, सैदपुर गांव जो अब पाकिस्तान में रह गया है मे हुआ था। इस सैदपुर गांव में आर्य-पथिक पं० लेखराम जी का भी जन्म हुआ था। एक पिछड़े हुए अविकसित अनाम गांव में आर्य समाज की दो बड़ी विभूतियों ने जन्म लिया, यह उस धरती की मिट्टी को श्रेय है। छः साल का एक निस्सहाय अर्द्धशिक्षित बालक संसार के कठिन कार्य क्षेत्र में कूद पड़ता है, न कोई सहयोगी, न मार्गदर्शन और न ही कोई पूंजी। पूंजी थी तो एकमात्र आत्मविश्वास, धर्मनिष्ठा, सात्विक जीवन और परिवार का संस्कार। बचपन से ही नित्य प्रति भजन-वंदना, प्रातः भ्रमण, व्यायाम, साधु-संतों का सत्संग, ये सभी सम्बल बनें।

उनके संघर्षमय जीवन में। किशोरावस्था में ही रू १०/- मासिक पर ठेकेदार गुरुदित्तामल कपूर के यहां छोटे मुंशी के रूप में काम किया और अपनी निष्ठा और ईमानदारी और परिश्रम से सबका विश्वास जीत लिया। इस नाममात्र वेतन में से भी कुछ राशि प्रतिमास बचाकर जब थोड़ी सी पूंजी इक्ट्ठी हुई तो उन्होंने अपने पांव पर, अपने बल-बूते पर, अपनी किस्मत आजमाने का निर्णय लिया। उन दिनों जम्मू के निकट पुल-निर्माण का विशाल काम चल रहा था, वहीं पर एक छोटा सा ठेका ले लिया। "पीर, बावरची, भिश्ती" की कहावत के अनुसार इस ठेके के काम में उन्होंने स्वयं मुंशी, मजदूर और ओवरसीयर का काम एक साथ निभाया। कम से कम खर्च में यह सारा काम कर दिखाया।

उनके जीवन के तीन आधार-स्तम्भ थे–परिश्रम, अनुशासन और पारदर्शी ईमानदारी। साथ ही वे सहज रूप से मित्र बना लेते थे और आजीवन मित्रता निभाते थे। उनके चरित्र का एक दूसरा पहलू था उनकी दानवीरता। जब रू० १०/- मासिक वेतन था तब भी वे दूसरों की सहायता करना कर्तव्य मानते थे, फिर जब वे लखपति बने तब भी किसी को खाली हाथ नहीं लौटाते थे।

एक रोचक प्रसंग उनके विवाह के संबंध में भी है। जब किसी ने उनके भावी ससुर श्री रंगीराम जी के सामने प्रस्ताव रखा तो वे इसे कैसे स्वीकार करते। दीवानचंद जी की हैसियत को उनसे सौ गुना कम थी। परंतु, जब दीवानचंद जी से समक्ष उन्हें मिलने का संयोग बना तो उनके तेजस्वी और महत्वाकांक्षी व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी सुपुत्री सतभ्रावां जी से उनका विवाह करना सहज स्वीकार कर लिया। उन्हें दीवानचंद जी की आखों में उनका उज्ज्वल भविष्य नजर आया। यह सन् १९११ की बात है।

गृहस्थ सुखमय था और व्यापार उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा था। तभी सतभ्रावां जी की दो सन्ताने हुई, पहला पुत्र जगदीश, बचपन में ही साधारण से ज्वर की बीमारी के बहाने कालकवलित हो गया। अभी इस वज्रपात से उभरे नहीं थे कि उनकी छोटी बेटी शकुन अपनी मां की गोद में ठण्डी हो गई। माता सतभ्रावां वृन्दावन-यात्रा के लिए गई थीं वहां से दिल्ली लौटते समय बस में बैठी थीं। अच्छी भली हंसती-खेलती बेटी बिना कुछ कहे-सुने, बिना किसी बीमारी के, सदा के लिए सो गई। लाला दीवानचंद जी के भाग्य में संतान-सुख नहीं था। कर्मठ तो थे ही ईश्वरविश्वासी भी थे। उन्होंने अपना सारा ध्यान अपने व्यवसाय की ओर लगा दिया और एक के बाद एक सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते गये। इस तरह से उन्होंने संतान की मृत्यु के दारूण दुख को विषपान की तरह अपने अन्दर समेट लिया।

लाला दीवानचंद जी आर्यसमाजी थे और आयुपर्यन्त पक्के आर्यसमाजी रहे। उनके दिल्ली के आलीशान घर में अतिथीशाला थी, जहां एक ओर बड़े विद्वान् संन्यासी ठहरते थे तो दूसरी ओर देश क़े राजनेता भी। लाला लाजपतराय जी जब लाहौर से दिल्ली आते थे उनके यहां उनका निवास होता था। उनके ठहरने के लिए एक अलग ही कमरा सुरक्षित रहता था। जितना निकट संबंध लाला लाजपतराय जी से था उससे कहीं अधिक स्वामी श्रद्धानंद जी के साथ रहा। दिल्ली में रहते हुए स्वामी जी से अक्सर सामाजिक कार्यों के सिलसिले में मिलना होता था। स्वामी जी के तेजस्वी विशाल व्यक्तित्व से लाला जी पूर्णतया प्रभावित थे, और उनके देश और समाजहित कार्यों के लिए मुक्त-हस्त से दान देते थे।

जब स्वामी श्रद्धानंद जी की हत्या एक मतान्ध मुस्लिम अब्दुल रशीद ने गोलियां चलाकर उनके निवास स्थान नयाबाजार

के घर में जहां वे अस्वस्थ थे, कर दी और यह समाचार बिजली की तरह दिल्ली में फैल गया तो स्वामी जी के पास उनके निवास पर सबसे पहले पहुँचने वाले व्यक्ति थे लाला दीवानचंद जी। एक ऐतिहासिक चित्र है जिसमें दीवानचंद जी स्वामी जी के घायल शरीर को अपनी गोद में सहारा देकर बैठे हुए हैं। आजीवन संबंध की परिणति मृत्यु के क्षणों तक रही।

लाला जी के जीवन का एक प्रसंग बड़ा मार्मिक है। निःसंतान हो जाने के कारण उनके संबंधियों और मित्रों ने जब यह दबाव डाला कि उन्हें दूसरा विवाह करना चाहिए तो अपने पक्के वैदिक संस्कार के कारण वे इसके लिए तैयार नहीं हुए। विवशता में जब दूसरा विवाह करने की स्थिति आई तो उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया ताकि कोई आर्यसमाज पर सिद्धांतहीनता का आक्षेप न लगा सके। परंतु वे आर्य-संस्थाओं और आर्यसमाज के विभिन्न कार्यों के लिए मुक्तहस्तसे दान देते रहे और आर्यसमाज की सभी गतिविधियों में सक्रिय भी रहे। ईश्वर की लीला है कि दूसरा विवाह करने पर भी वे निःसंतान ही रहे।

दो शब्द लाला जी के व्यक्तिगत स्वभाव और रुचियों के संबंध में। सफलता और समृद्धि के शिखर पर पहुँचकर उन्होंने अपना घर बनाने का निर्णय लिया। २, जैन मंदिर रोड, नई दिल्ली पर उन्होंने जो घर बनाया वह किसी महल से कम नहीं था। यह आलीशान भवन स्थापत्य-कला का विशिष्ट नमूना था। साथ ही, उनकी रईसी प्रकृति का परिचायक भी था। हजारों वर्ग-गजों में फैले इस भवन में कहीं टेनिस कोर्ट थे तो कहीं स्वीमिंग पूल, अनेक रंग-बिरंगें फव्वारों और मखमली घास के मैदान। सम्भवतः अपने छोटे से जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में अपना सपनों का महल बनाकर उसमें रहने की इच्छा पूरी होनी थी। ऐसा ही हुआ भी, यही उनकी

नियति थी। रईसाना ढंग से जीना-रहना चाहते थे। "शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर" अर्थात् सौ हाथों से कमा और हजार हाथ से दान दे, इस सूक्ति को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ किया।

उन्हें उनकी गांव की मिट्टी वापस बुला रही थी क्योंकि उनका अन्त भी उसी प्रदेश में होना था जहां उनका जन्म हुआ। मृत्यु से कुछ दिन पहले जब उन्होंने अपने जन्म स्थली सैदपुर में जाने का निर्णय लिया तो उनकी पत्नी भी उस गांव को देखने के लिए लालायित थी। जैसे-जैसे गांव निकट आने लगा, वे उस दीन-हीन गांव को देखकर भाव-विह्वल हो गये। सारा गांव पहले ही उनके स्वागत के लिए इक्ट्ठा हो चुका था। उन पर आशीर्वाद की वर्षा होने लगी। सभी प्रेम से उन्हें गले लगा रहे थे। अपने घर की जर्जर अवस्था और गांव की दुर्दशा को देखकर उन्होंने वहीं पर यह संकल्प किया कि सारे गांव का नवनिर्माण करना है, माँ की स्मृति में कन्याओं की पाठशाला खोलनी है और एक विशाल बारात-घर भी बनाना है। सारे गांव के लिए प्रीतिभोज का आयोजन किया। खुद भी पत्नी सहित पंक्ति में बैठकर पत्तलों पर भोजन किया। कैसा स्वर्गिक दृश्य होगा। कौन जानता था कि यह उनकी अन्तिम यात्रा है और जन्मभूमि को अन्तिम नमन भी।

दीवानचंद ट्रस्ट द्वारा किये जा रहे कुछ उपयोगी काम :

१. लाला दीवानचंद जी ने अपने जीवनकाल में ही दिल्ली के सबसे भव्य आर्यसमाज, दीवान हॉल–चाँदनी चौक (लालकिले के सामने) का निर्माण करवाया था। तद्नन्तर आर्यसमाज–हनुमान रोड़, नई दिल्ली के भवन का निर्माण किया। इस परम्परा में गत चार-पांच वर्षों के ट्रस्ट की ओर से निम्नलिखित आर्यसमाजों के नये भवन निर्माण के लिए लाखों रूपये का अनुदान दिया गया है और ये

भवन अपने क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार में सक्रिय हैं।

आर्यसमाज – नोएडा
आर्यसमाज – सरिता विहार
आर्यसमाज – सूरजमल विहार
आर्यसमाज – मालवीय नगर
आर्यसमाज – लक्ष्मी नगर
आर्यसमाज – अरुण विहार, नोएडा आदि

इन सभी आर्यसमाजों में एक बड़ा हॉल और यज्ञशाला बन चुकी है और एक तरह से ये भवन सामुदायिक केंद्रों का काम भी कर रहे हैं जहां लाईब्रेरी है, डिस्पेंसरी है, साक्षरता के कार्यक्रम तथा महिलाओं के लिए उपयोगी धन्धे सिखाने का कार्यक्रम प्रारम्भ हो चुके है।

२. लाला जी ने अपनी वसीयत में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए भी आदेश दिया था। तद्नुसार नेत्र-चिकित्सा-शिविरों इत्यादि का नियमित रूप से आयोजन किया जा रहा है। अनेक चैरिटेबल संस्थाओं प्राकृतिक आपदाओं तथा अन्य आपताओ–जैसे संत परमानंद आदि को भी आर्थिक सहयोग दिया गया है।

३. लालाजी आजीवन आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार को समर्पित रहे। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए अनेक संस्थानों को, वैदिक साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रतिवर्ष अनुदान दिया जाता है। इनमें प्रमुख हैं :–

स्वामी समर्पणानन्द शोध संस्थान एवं स्वामी सत्यानन्द जी, प्रो० राजेंद्र जिज्ञासु, प्रो० भवानीलाल भारतीय जी प्रभृति अनेक विद्वानों के साहित्य प्रकाशनार्थ।

४. लाला जी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ मिलकर भारत के सबसे बडे अनाथालय, आर्य अनाथालय-पटौदी हाउस,

नई दिल्ली की स्थापना की थी। प्रतिवर्ष इस संस्था को आर्थिक अनुदान दिया जा रहा है।

५. भोले-भोले अशिक्षित आदिवासियों को ईसाई मिश्नरी अनेक हथकंडो और मिथ्या प्रचार से ईसाई बना रहे हैं, इसके निराकरण के लिए और आर्यसमाज का संदेश पहुँचाने के लिए असम, नागालैंड तथा मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेंत्रों में नियमित प्रचार के लिए सेवा-भारती तथा दयानन्द फांउडेशन को लाखों का अनुदान दिया जा चुका है।

६. लाला जी की अन्तिम इच्छा के अनुसार देश में राजनैतिक जागरूकता लाने के लिए "दीवानचंद इंस्टीट्यूट ऑफ नेशनल अफेयर्स" की स्थापना की गई है जिसके द्वारा सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों पर गोष्ठी, सेमिनारों इत्यादि का आयोजन तथा संबंधित साहित्य का प्रकाशन होता है।

७. विकलांगों की शिक्षा-दीक्षा के लिए अबतक २० लाख रुपयों का अनुदान दिया जा चुका है, विशेषकर, नेत्रहीनो, मूक और बधिरों के लिए।

८. ऋषि भूमि टंकारा में भवन-निर्माणार्थ सहयोग।

भूमिका

महाराज भर्तृहरि ने मनुष्य और पशु का भेद बताते हुये ये प्रसिद्ध उक्ति कही है—

साहित्य सङ्गीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः,
तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥

जो व्यक्ति साहित्य, संगीत और कला से विहीन है वह सींग और पूँछ से विहीन साक्षात् पशु है। भला ही वह घास नहीं चरता फिर भी सांस ले रहा है तो जानो वह पशुओं का बड़ा भाई है। साहित्य, संगीत और कला में कुशल व्यक्ति को यदि कोई एक नाम देना हो तो वह नाम है कवि। कवि के बारे में यह प्रसिद्ध उक्ति है, ''कि जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि'' तर्क और दर्शन सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर सकते हैं यहाँ तक कि इतिहास की मिथ्या व्याख्याओं से ही असत्य की पुष्टि की जा सकती है किन्तु कवि की लेखनी असत्य का समर्थन नहीं कर सकती। कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज से आती है। समाज निराकार प्रतिमा है। जिसकी धड़कन कवि के कलेजे से उठती है। जिसकी शंकाये और विश्वास कवि के मुख से उच्छ्वसित होते हैं।

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि को उस समय कविता फूटी कि जिस समय व्याध ने क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को निशाना बनाया और वह धरती पर आ गिरा। उनके मुख से सहसा निकला ''**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमःशाश्वती समाः। यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**'' अर्थात् हे निषाद! तुम बहुत दिनों तक इस संसार में जीवित न रहो। क्योंकि तुमने इस क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को, जो काममोहित होकर प्रणयरत था, मारा है। ऋषि ने ये शब्द कह तो डाले, पर दूसरे ही क्षण उन्हें विस्मय हुआ कि व्याध पर उँडेले गये अभिशाप के इन स्वरों में यह विचित्र वर्ण-विन्यास कैसा ये उनके हृदय की टीस थी जिसे वह रोक न सके।

यह एक कविता भी है। कहते हैं उन दिनों ऋषि के हृदयतल में किसी चरित्रवान् व्यक्ति के इतिहास लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई। प्रसङ्गोपात्त घूमते-फिरते नारद मुनि वाल्मीकि के पास आ गये। उन्होंने नारद से कहा कि अहा भाग्यवश तुम मेरे सामने उपस्थित हो गये हो इस समय मुझे कविता फूट रही है। और मेरी लेखनी उसे लेखबद्ध करने को तत्पर है। मुझे ऐसे व्यक्ति का नाम सुझाइये कि जिसे लिखकर मेरी लेखनी और मेरा काव्य अमर हो जाये। और उन्होंने पूछ ही लिया **''चारित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः कः विद्वान् कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः ॥''** कि इस धरती पर कौन ऐसा व्यक्ति है जो चरित्र में सर्वोपरि हो, और सब प्राणियों के हित में रात-दिन रमन करता हो, साथ में विद्वान् हो और समर्थ भी हो। एक मात्र प्रजा के लिये प्रियदर्शन हो॥ उसके उत्तर में श्री राम के नाम का उल्लेख करते हुये चारित्रिक गुणों की एक शृङ्खलाबद्ध झड़ी लगा डाली यों तो विश्व वाङ्मय में एक से एक चमत्कार पूर्ण हृदय हिला देने वाली अनेक घटनाएँ भरी पड़ी हैं, परन्तु मानवीय धरातल पर स्थित रहते हुए दैवीय मूल्यों से ओत-प्रोत मर्मस्पर्शी और उदात्त राम-सीता की करुण कथा है वैसी अन्यत्र शायद ही कभी कहीं कही या सुनी गई हो। रामायण संसार का सबसे सफल और हृदयहारी महाकाव्य बन सका है उसका श्रेय वाल्मीकि की उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा को है। वह आदि काव्य होने के साथ-साथ अन्य कवियों के लिए आदर्श भी है।

यजुर्वेद के अंतिम अध्याय में ब्रह्म को कवि के नाम से याद किया गया है **स पर्यगात्........कविर् मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।** वह ब्रह्म कवि है, मनीषी है परिभू है, स्वयंभू है और नित्य प्रजाओं के लिये याथातथ्य अर्थों का प्रकाश करता है। कवि होने के परिणाम स्वरूप ब्रह्म-ने दो काव्यों की रचना की। एक को मर काव्य और दूसरे को अमर काव्य कहा है। एक का **इदम्** से सम्बन्ध है तो दूसरे का **तत्** से। एक का **क्षर** से सम्बन्ध है तो दूसरे का **अक्षर** से। यदि ब्रह्म के इन लक्षणों को कवि पर लागू कर दिया जाये तो कोई आपत्ति न होगी। कवि क्रान्तदर्शी होता है। क्रान्तदर्शी होने के लिए मनीषी होना आवश्यक

है। उसकी पहुँच सब ओर होनी चाहिए। उसे परिभू होना चाहिए। साथ ही साथ उसकी रचना में स्वयम्भूपन दिखाई दे। और किसी की नक़ल न हो। और अपनी प्रजाओं के लिये याथातथ्य अर्थों का प्रकाश करे। किसी ने व्यंग्यात्मक शब्दों में कहा है **सुकविर्हरतिच्छायाम्, कुकविर्छायांपदंचैव सर्वपदावलि हर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यम्॥** इसी लिये कवि का विशेषण दिया गया स्वयम्भूः।

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के आरम्भ में ही कहा गया कि प्रत्येक राष्ट्र पवित्र कवियों से भर जाए। **कविभिः** पद के साथ **पवित्रैः** पद अन्य किसी का विशेषण होकर नहीं आया अर्थात् कविभिः विशेष्य तथा पवित्रैः विशेषण यह संगम अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सामान्य विद्वान् को भी कवि कहते हैं। इसके निराकरण के लिये आठवें मन्त्र में स्पष्ट कहा है—**"श्चोतन्ति धारा मधुनो धृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन"।** यह रसवर्षी विद्वान् जब अपने मार्ग में काव्य के बल पर बढ़ता है तो घृत और मधु की धारायें बहने लगती है। रसवर्षी कलाओं का विस्तार होने से वीररस की रक्षा हो सकेगी। इसलिए **कविभिः** पर **पवित्रैः** का अंकुश लगाया गया है। ऐसे पवित्र कवियों की कृपा से प्रजा के कानों में भद्रता निवास करेगी। इन पवित्र कवियों की कविताओं से मानव राष्ट्र का कल्याण न होगा तो कैसे होगा। इसी से हम कल्याणकारी सौमनस में रहेंगे **"तस्य वयं सुमतौ यज्ञस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम"॥**

भारत राष्ट्र में विशेष कर वेदानुयायी आर्यसमाज के विद्वानों ने पवित्र कविताओं की बाढ़ सी ला दी थी और उसके द्वारा संस्थापित गुरुकुलों से ऐसे पवित्र कवि निकले जो स्वयं पवित्र थे। उनका काव्य भी पवित्र था। निःसन्देह वे स्वयम्भू कवि बने इस बात के कहने में हमें कोई संकोच नहीं। उनमें से कुछ कवियों ने वेद मन्त्रों की छाया में अपनी कविताओं की रचना की। वे रचनायें राष्ट्र के जन-जन तक पहुँच सके। इस बात के विचार से मेरा हृदय उद्वेलित हो उठा और मैंने "वेद गीताञ्जलि" नामक संग्रह को प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया। उस ग्रन्थ रत्न को मुद्रणालय में भी दे दिया। इसी बीच मुझे हृदय-आघात हुआ। मुझे तत्काल "एस्काट

हृदय चिकित्सालय'' में प्रवेश करा दिया गया। पहले ही दिन से मुंजाल परिवार ने विशेष कर सपत्नीक श्री बृजमोहन जी मुंजाल ने मेरी पीठ पर अपना हाथ रखा उसके लिये न केवल आर्थिक भार ही वहन किया अपितु चिकित्सालय से मुक्त होते ही अपने घर ले गये और मेरे हर प्रकार के विश्राम के लिये व्यवस्था उत्पन्न कर दी। डॉक्टरों के आदेशानुसार मुझे पूर्ण विश्राम करना था, परन्तु मेरे मन और मस्तिष्क मुझे चैन से न बैठने देते थे और मैं लुक-छिप कर वेदगीताञ्जलि ''भारत-निर्माता'' आदि ग्रन्थों के प्रकाशन में लगा रहता। ग्रेटर कैलाश के निकट होने से भगवती लेज़र प्रिन्टर्स के अधिपति श्री विजय जी बराबर प्रकाशन कार्य में जुटे रहे। उसी का परिणाम है यह ग्रन्थरत्न राष्ट्र की जनता के हाथों में है॥

श्री बृजमोहन जी मुंजाल के गृह पर मैं विश्राम कर रहा हूँ यह सूचना आर्यजगत् के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँच गई जिसके परिणामस्वरूप श्रद्धालु व्यक्तियों के आने जाने का तांता लगा रहता उनमें से अमर शहीद स्वर्गीय राजपाल जी के सुपुत्र श्री विश्वनाथजी मालिक ''राजपाल एण्ड सन्स'' कई बार मिलने आये।

प्रसंगोपात्त संस्थान द्वारा होने वाले नये प्रकाशन के विषय में पूछताछ करने लगे तो जैसे ही मैंने ''वेदगीताञ्जलि'' एवं अन्य प्रकाशनों की सूचना दी तो बड़े हर्षित हुए तत्काल उन्होंने लाला दीवानचन्द ट्रस्ट से आर्थिक सहयोग दिलाने का वचन ही नहीं दिया अपितु पचास सहस्र रुपये की राशि तत्काल भिजवा दी।

जैसा कि हम ऊपर ऋग्वेदीय सूक्ति **कविभिः पवित्रैः** का उल्लेख करते हुए लिख आये हैं कि हमारा राष्ट्र पवित्र कवियों से भर जाये। उदाहरण स्वरूप वेदगीताञ्जलि के पन्ने-पन्ने से प्रगट होता है। विद्वान् कवि ने पहले मन्त्र फिर उसका हिन्दी में भावार्थ और उसी की छाया में कविता लिखी है। उन पवित्र कवियों में ''सत्यकाम विद्यालङ्कार'' का नाम सर्वोपरि है। जो कि परमहंस की उपाधि से युक्त होकर प्रगट हुये हैं। उनके सर्वोपरि नाम होने का कारण यह भी है कि उनके स्वतन्त्र रूप से लिखे गए जिससे उनके गीतों की संख्या ९४ हो गई। ''वैदिक वन्दना'' गीत भी सम्मिलित कर दिये गए। इन दोनों ही ग्रन्थों का प्रकाशन ''विश्वविद्यालय गुरुकुल काङ्गड़ी'' से

हुआ था। इसलिये हम गुरुकुल काङ्गड़ी के अत्यन्त आभारी हैं। श्री स्वर्गीय सत्यकाम जी विद्यालङ्कार के अतिरिक्त श्री वेदव्रत जी, श्री जगन्नाथ प्रसाद जी, श्री चमूपति जी एम०ए० स्वामी समर्पणानन्द जी सरस्वती (विद्यामार्तण्ड पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार) श्री पं० वागीश्वर जी, श्री निरञ्जन देव "प्रियहंस", श्री नानकचन्द निश्चिन्त, श्री महावीर प्रसाद मिश्र "निरीह" श्री गिरिजाशङ्कर मिश्र "गिरीश", श्री विनय जी, श्री सन्तप्रसाद जी वर्मा, श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्री अमर स्वामी जी हैं पाठक वृन्द जब इन कविताओं को गुनगुनायेगा तो सहज ही आत्मविभोर होकर कह उठेगा "**कविभिः-पवित्रैः**" जिससे राष्ट्र का चरित्र उन्नत होगा। राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर जी ने अपने अमर-ग्रन्थ संस्कृति के चार अध्याय में वर्णित आर्यसमाज शीर्षक के नीचे दिये हुये स्वाभिमान का उदय नामक लेख में इस पवित्रता का उल्लेख इस प्रकार किया है। **स्वामी जी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्त्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिदुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया आर्यसमाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुये विधवा विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या, शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्यसमाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रान्तों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गयी और हिन्दी के कवि कामिनी-नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे। पुरुष शिक्षित एवं स्वस्थ हों, नारियाँ शिक्षिता एवं सबला हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें कोई हिन्दू मूर्त्तिपूजा का नाम न ले, न पुरोहितों, देवताओं और पण्डों के फेर में पड़े, ये उपदेश उन सभी प्रान्तों में कोई पचास साल तक गूंजते रहे, जहाँ आर्यसमाज का थोड़ा-बहुत प्रचार था।** उपरिवर्णित सभी के प्रति हमारा नमन है।

नमः पूर्वजेभ्यः पवित्रेभ्यः कविभ्यः ॥

—दीक्षानन्द

विषयानुक्रमणिका

कविता	कविनाम
------	--------
--------	--------
--------	--------
विश्व की हे आदि चेतन......	श्री सत्यकाम "परमहंस"
हे ज्योतिर्मय आओ	श्री सत्यकाम "परमहंस"
बहे सोमरस धार, जग में	श्री सत्यकाम "परमहंस"
प्राणों की जो प्राणों समान	सुमित्रा नन्दन पंत
सिन्धु की ऊर्मियों पर	....
सिन्धु की उठती हुई फेनिल	सत्यकाम "परमहंस"
भूर्भुवः स्वः-तीनों धाम	सत्यकाम "परमहंस"
वही प्राण है व्यान अंपान	---------
	ओम् हो रक्षक हमारे अमर स्वामी
----	----
अग्नि देव तेरी करूँ	स्वामी समर्पणानन्द (पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार)
कान्त! सूर्य! उषा की पहली	---------
मूर्त्तविजय! पावन वैभवमय	---------
उन्नायक, हे इन्द्र! सत्य ही	--------
दिव्य भावना रहे हृदय में	------
सब देब दयालु रहें हम पर	श्री सत्यकाम "परमहंस"
भगवन्! बैभव वाले देव!	-----------

कविता	कविनाम
शत नमस्कार, शत नमस्कार	श्री जगन्नाथ प्रसाद
देवलोक के व्योम विहारी	श्री सत्यकाम "परमहंस"
रहा प्रेम का पलना झूल	श्री चमूपति एम०ए०
आओ प्यारे वृषा! शक्र तुम	वेदव्रत
जन-जन के मन ईश्वर है	श्री सत्यकाम "परमहंस"
हे प्रभु मेरे परम सखा	-------
कैसे तुमको ध्याऊँ	------
आओ गायें उसका गान	------
आओ गायें मंगल गान	------
प्रभु की मधुर उठे जब याद	------
अपने ही से कर उठता हूँ	------
कब से मैं तुमको रहा टेर	श्री महावीर प्रसाद मिश्र "निरीह"
हे प्रभु अब तुम बनो सारथि	श्री सत्यकाम "परमहंस"
गायें उसके गुण गौरव के	------
प्रभु! मेरी वाणी में ऐसा	------
जैसे एक सुहृद् के हृदय	-----
प्रेम के आदान से ही प्रेम	------
देखने के हेतु तुमको दूर रहे हैं	श्री जगन्नाथ प्रसाद
देखो प्रिय! यह कैसा अचरज	
उषा संग जागा जग सारा	
देखते किसे हो बन्धु	
सूर्य-चन्द्र नभ पवन अग्नि जल	
सूर्य-चन्द्र नभ पवन अग्नि जल	
घर का दीपक बार रे मनुवा	
जगत् उद्यान के हे दिव्य माली	

ऋषिः—**ब्रह्मा**। देवता—**छन्दः**। छन्दः—**एकावसाना द्विपदा बृहती**।
स्वरः—**मध्यमः**॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै॥

—अथर्ववेद १९।२१।१

गायत्री अपने (२४ अक्षरों के रूप में) षड्ज [स] स्वर के साथ,

उष्णिक् अपने (२८ अक्षरों के रूप में) ऋषभ [रे] स्वर के साथ,

अनुष्टुप् अपने (३२ अक्षरों के रूप में) गान्धार [ग] स्वर के साथ,

बृहती अपने (३६ अक्षरों के रूप में) मध्यम [म] स्वर के साथ,

पङ्क्ति अपने (४० अक्षरों के रूप में) पञ्चम [प] स्वर के साथ,

त्रिष्टुब् अपने (४४ अक्षरों के रूप में) धैवत [ध] स्वर के साथ,

जगती अपने (४८ अक्षरों के रूप में) निषाद [नि] स्वर के साथ,

हमारी गीताञ्जलि स्वीकार करें।
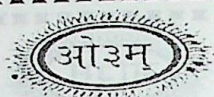
देवता – अग्निः ।

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देव मृत्विजम्
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋक् १.१.१. ॥

विश्व की हे आदि चेतन ज्योति, तुझ को शत प्रणाम ।
तू अगोचर अगम तुझ से, ही विभासित विश्व धाम ॥
मौन तू, फिर भी चतुर्दिक, आ रहा आह्वान तेरा ।
रत्नगर्भा है धरित्री, व्योम यज्ञ-वितान तेरा ॥
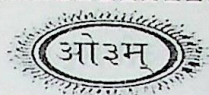
देवत – अग्निः ।

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ।। साम १

अग्ने ! '**होता**' होता तू '**गृणानः**' गुणानुवादित होकर '**आयाहि**' आ, '**वीतये**' प्रकाशन के लिए तथा '**हव्य-दायते**' हव्य प्रसाद देने के लिए । '**बर्हिषि**' आसनपर '**निसत्सि**' नित रामः बैठ निरन्तर विराज ।

हे ज्योतिर्मय आओ ।
अँधेरा गहरा तन-मन में, अन्तर में दीप जलाओ ।
युगों-युगों से बुझी हुई है, मन की जोत हमारी ।
सूर्य-चन्द्र विद्युत् तारे सब तेरे रहें भिखारी ।
मेरी सूनी कुटिया में भी अपनी जोत जगाओ
हे ज्योतिर्मय आओ ॥

नये प्राण जागें तन-मन में, हव्य बनूँ मैं यज्ञ सदन में ।
परम देवता, तेरे अरपन कर्म-धर्म हों सब जीवन में,
ऐसे भाव जगाओ, हे ज्योतिर्मय आओ. ।

देवता – इन्द्रः ।

इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमीमृजन्त्यायवः ॥

साम पूर्वाचिक. ६.३.१०॥

समस्त विश्व के रोम-रोम से प्रस्फुटित असीम आनंद में विभोर ऋषि अखिल सौन्दर्य तत्व के मूल स्रोत सोम की प्रशस्ति करता है —

यह **'सोमः सुतः'** प्राणवंत आनन्द का निर्झर सोम **'मरुत्वते इन्द्राय पवते'** प्राणेश्वर इन्द्र की आराधना के लिए ही अनन्त काल से बह रहा है।

यह **'सहस्रधारः सोमः अतिअव्यम् अर्षति'** सहस्रों धाराओं और रूपों में प्रवाहमान सोमसुधा प्राण - मदिरा, मनुष्य के बाह्याभ्यन्तर को आप्लावित कर रही है । यह सोम, सात्विक आनन्द का प्रवाह **'आयवः ईमृजन्ति'** मन के क्षुद्र अहंकार को डुबोकर विश्वात्मा में पूर्ण विलय करके उसे शुद्ध कर रहा है । मेरा हृदय सरोवर इस पावन सोमरस से सदा पूर्ण रहे ।
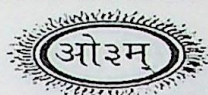
सहस्र धारा

बहे सोमरस धार, जग में
बहे सोमरस धार !

नभ के अन्तराल से गहरे
आती यही पुकार !
बहे सोमरस धार !

झरता रहे सोमरस निर्झर
सौरभ भरा पवन !
मद से भरे कलश जैसे हों
भरे रहें घन सदा मगन !

शत सहस्र धाराओं में
बरसे जलद उदार !
बहे सोमरस धार ! जग में
बहे सोमरस धार !
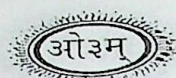
ऋषिः—**जमदग्निः (चलती-फिरती आग)**। देवता—**पवमानः सोमः**।
छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्राय पवते मदः, सोमो मरुत्वते सुतः।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमीं मृजन्त्यायवः॥

—सामवेद पूर्वार्चिक ६।३।१०

(सोमो मरुत्वते सुतः) सोम-रस की उत्पत्ति प्राणों के पति के लिए हुई है। **(मदः इन्द्राय पवते)** यह मस्ती इन्द्रियों के राजा के लिए एक पवित्र प्रवाह के रूप में बह रही है। **(सहस्रधारः अति-अव्यम् अर्षति)** यह सहस्रधार का प्रवाह रोम-रोम से पार हो रहा है। **(ईम्)** अरे! **(आयवः तं परि मृजन्ति)** आती-जाती तरंगें इसका संशोधन करती हैं।

साम-गान

प्राणों को जो प्राणों समान,
प्रिय है उसको चिर सोम-पान,
उसके मद में हो लीयमान,
निज पर का रहता फिर न ज्ञान।
रोओं-रोओं से रे अपार
बहता आनन्द सहस्रधार
लग अन्तर्-बहिर्जगत प्रहार,
झंकृत करते मधु हृदय-तार।
वह दिव्य सोम रे अमर-पान,
अन्तर्तम से हो प्रवहमान,
संसृति को करता बल-प्रदान,
गाता उसके गुण साम-गान॥

(श्री सुमित्रानन्दन पन्त,
१ माघ, १९९४)

ऋषिः—**असितः (बन्धन-रहित)**। देवता—**पवमानः सोमः**।
छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

परि प्रासिष्यदत् कविः, सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॥ —साम पूर्वार्चिक ५।१०।१०

(सिन्धोः) समुद्र की **(ऊर्मौ)** लहर पर **(अधिश्रितः)** सवार हुआ-हुआ **(कविः)** क्रान्तदर्शी **(पुरुस्पृहम्)** लोकप्रेम की **(कारुम्)** तन्त्री को **(बिभ्रत्)** उठाए हुए **(परि प्रासिष्यदत्)** चारों ओर बह गया।

परिप्रासिष्यदत्

(क्रान्ति एवं लोकप्रेम का प्रवाह)

सिन्धु की इन ऊर्मियों पर, बह गया कवि बाँसुरी ले,
बह गया सब ओर प्यारा—उठ रहे गायन सुरीले।

एक मञ्जु हिलोर.....सारा सरल विश्व विभोर...सा हो,
बढ़ गया उसकी स्पृहा में—बँध गया ज्यों डोर-सा हो।

और अब उसको भला क्या! व्योम के ऊपर चढ़ा है,
लीन अपनी रागिणी में, प्रेम ही से वह बढ़ा है।

तान उसकी छू रही है मुग्ध-से इस विश्व का दिल,
ज्योतियाँ सौन्दर्य-रस की उल्लसित उससे हिलीं मिल।

देखना आसान है क्या इस कला की रूप-रेखा?
तू स्वयं संगीत-स्वर है, देव है! यह आज देखा॥

(१९ माघ १९९३)
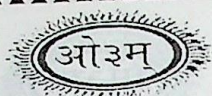
देवता — पवमानः सोमः ।

परिप्रासिष्यदत् कविः
सिन्धोरूर्मावधिश्रितः ।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ।। सामपूर्वार्चिक - ५, १०, १०. ।।

दिव्य दृष्टि प्राप्त ऋषि सागर से लेकर गगन मण्डल तक व्याप्त विश्वात्मा के दिव्य स्वरों को सुनकर नादमय ब्रह्म की वन्दना करता है ।

सिन्धोः ऊर्मौ अधिश्रितः–सागर की अपार जल राशि और उसकी गगनचुम्बी तरंगों पर तैरते हुए—**कविः पुरुस्पृहम् कारुं बिभ्रत्** दिव्य कवि ने प्रेम की वंशी के स्वरों में अनन्त अंतरिक्ष को —**परि प्रासिष्यदत** आच्छादित कर लिया ।

उस स्वर-सूत्र के रूप में प्रभु के दिव्य प्रेम का ही आकर्षण है, जो पृथ्वी ही नहीं, नक्षत्रलोक में भी सबको शाश्वत व्यवस्था में बाँधे हुए है ।

जिसने विश्वात्मा की उस सूक्ष्म स्वर ध्वनि से अपने अन्तर के स्वरों को मिला लिया, वह उसका साक्षात् अनुभव अपने हृदय में करता है । आत्मसाक्षात्कार का यही मार्ग है ।

वंशी के बजते हुए उन स्वरों से अपने हृदय के स्वरों को मिलाने पर हम भी अपने विराट स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं । अपने हृदय के कंपन में विश्वात्मा की शाश्वत ध्वनि सुन सकते हैं ।
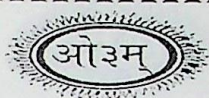
विश्व कवि

सिन्धु की उठती हुई फेनिल-
तरंगों के शिखर पर,
बैठकर जब दिव्य कवि ने-
मधुर वंशी को दिया स्वर।

व्योम मण्डल के सभी ग्रह-
बँध गये स्वर जाल में।
विश्व गायक के अनाहत-
नाद की लय ताल में।

यह अनाहत नादमय ही
ब्रह्म है, भगवान है।
इन स्वरों के सूत्र में ही
सृष्टि का सब ज्ञान है।

विश्व वीणा का अलौकिक-
स्वर, तरंगों में बहे।
एक अक्षर ब्रह्म ही में-
लीन होता जग रहे।
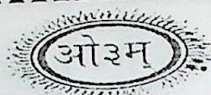
देवता – सविता।

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्

ऋग्वेद ३.६२.१०, यजुर्वेद ३.३५, साम ३.६.१० ॥

भगवान की ज्योति के प्रकाश में चलने की कामना करते हुए वेद का दिव्य कवि संकल्प करता है—

'भूः भुवः स्वः सवितुः देवस्य' पृथ्वी, नभ, अन्तरिक्ष में दिव्य सविता, प्राण प्रसू आद्य शक्ति व्याप्त है। हम उसकी **'वरेण्यं भर्गो धीमहि'** श्रेष्ठतम तेजोमय ज्योति को हृदय में ग्रहण और धारण करते हैं।

उस दिव्य प्रकाश के बिना हमारे हृदय का अन्धकार दूर नहीं होगा। स्वतः प्रकाश केवल वह दिव्य ज्योति ही है। अन्य सब प्रकाशों में दिव्यता नहीं है।

वह दिव्य मेधा ही **'नः धियो प्रचोदयात्'** हमारे विवेक को प्रेरित करे। इस मेधा की उपलब्धि केवल परम ज्योति को हृदय में धारण करके ही हो सकती है। विश्व-ज्योति से आत्मदीप को प्रज्ज्वलित करने के बाद ही बुद्धि में सदसद्विवेक जागृत होगा। यह विवेक ही मनुष्य का पथ दर्शक बन सकता है।

वरेण्यं भर्गः

भूर्भुवः स्वः – तीनों धाम
ज्योति आपकी है अभिराम
परम पुरुष हे ज्योतिर्मान
हम सबको दो यह वरदान

ज्योति आपकी जगे हृदय में
तेजवन्त हों हम जीवन में
मन में रहे आपका ध्यान
हम सबको यह दो वरदान

वही ज्योति प्रेरक बन जाये
उससे प्राण प्रेरणा पाये
उससे मिले सत्य का ज्ञान
हम सबको दो यह वरदान

परम पुरुष हे ज्योतिर्मान
हम सबको दो यह वरदान
सविता हो तुम स्वयं प्रकाश
आओ अन्तर हृदयाकाश

सविता, अमर-ज्योति से सबके
रहें प्रकाशित अन्तःप्राण
परम पुरुष हे ज्योतिर्मान
हम सबको यह दो वरदान
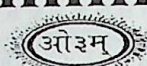
ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री (निचृद्)**।
स्वरः—**षड्जः**॥

भूः भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—ऋग्वेद ३।६२।१०; यजुर्वेद ३६।३; सामवेद उत्तरार्चिक ३।६।१०

(सवितुः) प्रेरक उत्पादक **(देवस्य)** परमात्मदेव के **(तत्)** उस **(वरेण्यं)** वरने योग्य **(भर्गः)** शुद्ध तेज को **(धीमहि)** हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं **(यः)** जो धारण किया हुआ तेज **(नः)** हमारी **(धियः)** बुद्धियों को, कर्मों को **(प्रचोदयात्)** सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

सावित्री

वही प्राण है व्यान अपान।
सत् चित् है आनन्द महान्॥

उस प्रेरक, सच्चे उत्पादक,
श्रेष्ठ देव के वरने लायक,
शुद्ध तेज का मन से चिन्तन,
करें भरें फिर नस-नस निज तन।

दिव्य तेज यह विमल करे जल—
कार्य-शक्ति मेधा को उज्ज्वल।
सत्पथ पर प्रेरित हम होवें,
बुद्धि मलिनता सारी धोवें।

सखे! प्रेममय! तेजःशाली!
फैले जीवन में उजियाली॥

(मार्गशीर्ष, १९९०)

गायत्री मन्त्रः

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ यजुः० ३६-३

जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला, सूर्य आदि लोकों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला, सबका स्वामी ज्ञानस्वरूप और नाश-रहित है, उस सवितादेव के प्राणों से भी प्रिय मुक्तों और भक्तों को दुःखों से अलग रखनेवाले, सुखस्वरूप, सबके ग्रहण करने योग्य शुद्ध विज्ञानरूप को हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें, जो हमारी बुद्धियों को कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करे, उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

ओम् हो रक्षक हमारे, सब गुणों की खान हो।
भूः सदा सब प्राणियों के, प्राण के भी प्राण हो॥
भुवः सब दुःखों को करते, दूर कृपा-निधान हो।
स्वः सदा सुखरूप, सुखमय सुखद सुखधि महान् हो॥
तत् वही सुप्रसिद्धः भगवन्, वेद-वर्णित सार हो।
देव **सवितुर्** सर्व उत्पादक हो, पालनहार हो॥
शुभ **वरेण्यम्** वरण करने, योग्य भगवन् आप हो।
शुद्ध **भर्गः** मलरहित, निर्लेप हो निष्पाप हो।
दिव्य गुण **देवस्य** देवस्वरूप देव अनूप के।
धीमहि धारे हृदय में, दिव्य गुण सब आप के॥
धियो यो नः वह हमारी बुद्धियों का हित करे।
अमर **प्रचोदयात्** नित सन्मार्ग में प्रेरित करे॥[1]

अमर स्वामी

प्रातःसूक्त

[प्रभात-वन्दन]

प्रभात-वन्दन (१)

ऋषिः—**वसिष्ठः (अथर्वा)**। देवता—**अग्न्यादि**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं, प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥

—यजुः० ३४।३४

हे प्रभो! हम **(प्रातः)** प्रातःकाल **(अग्निं)** तुम्हारे तेजोमय अग्निरूप का **(इन्द्रं)** ऐश्वर्यमय इन्द्ररूप का **(मित्रावरुणौ)** स्नेह तथा न्यायमय मित्र और वरुणरूप का, और **(अश्विनौ)** आदान-विसर्गात्मक अश्विनीरूपों का **(हवामहे)** आह्वान करते हैं। हे आराध्यदेव! हम आपके **(भगं)** दिव्य महिमामय भगरूप का **(पूषणं)** पुष्टि देनेवाले पूषारूप का **(ब्रह्मणस्पतिं)** अखिल ज्ञानमय ब्रह्मणस्पतिरूप का, तथा **(सोमं उत रुद्रं)** आपके सौम्य एवं रौद्रगुण-सम्पन्न सोम और रुद्ररूप का **(प्रातः)** प्रतिदिन प्रातःकाल **(हुवेम)** आह्वान करें।

प्रभात-वन्दन

अग्नि-देव तेरी करूँ पहिले भोर पुकार।
तुही इन्द्र तू मित्र है तुही वरुण करतार॥ १॥

तेरी ही इस विश्व में व्याप रहीं दो धार।
खेंचनहारी एक है एक विसर्जन-हार॥ २॥

भक्तों का भजनीय तू, तू पूषा दातार।
तू अनन्त इस विश्व में विद्या का भण्डार॥ ३॥

तुही सोम-रस से भरा दाह मिटावन-हार।
तुही रुद्र होकर रहा दुष्टों का संहार॥ ४॥

प्रभात-वन्दन (१)

ऋषिः—**वसिष्ठः (अथर्वा)**। देवता—**अग्न्यादि**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः** ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं, प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥

—यजुः० ३४।३४

हे प्रभो! हम **(प्रातः)** प्रातःकाल **(अग्निं)** तुम्हारे तेजोमय अग्निरूप का **(इन्द्रं)** ऐश्वर्यमय इन्द्ररूप का **(मित्रावरुणौ)** स्नेह तथा न्यायमय मित्र और वरुणरूप का, और **(अश्विनौ)** आदान-विसर्गात्मक अश्विनीरूपों का **(हवामहे)** आह्वान करते हैं। हे आराध्यदेव! हम आपके **(भगं)** दिव्य महिमामय भगरूप का **(पूषणं)** पुष्टि देनेवाले पूषारूप का **(ब्रह्मणस्पतिं)** अखिल ज्ञानमय ब्रह्मणस्पतिरूप का, तथा **(सोमं उत रुद्रं)** आपके सौम्य एवं रौद्रगुण-सम्पन्न सोम और रुद्ररूप का **(प्रातः)** प्रतिदिन प्रातःकाल **(हुवेम)** आह्वान करें।

प्रभात-वन्दन

कान्त! सूर्य! ऊषा की पहली,
इस वसुधा की शान सुनहली-
किरणों से घर मेरा भर दो,
नतशिर हूँ, प्रिय! सुन्दर वर दो।

अपने विविध शक्तियों वाले,
रूप एक ही साथ निराले,
इस प्रभात-सुन्दर वेला में,
दिखलाओ, हे माया वाले!

तेजोमय! वर्चस्वी हम हों,
प्रभु! गौरवमय हों सुहृदय हों।
न्याय-प्रेम की मूर्त्ति! दिलों में-
बसे प्रेम, व्यवहार सदय हों।

प्राण! प्राणमय ही जीवन हों,
पूषा! पुष्ट, हमारे मन हों।
वेद! सत्य विद्या का धन हो,
सोम! शान्ति का व्रत पालन हो।

रुद्र! पराक्रम हो भुजबल हो,
इन्द्र! विभव सम्मान अचल हो,
आँख खोलते ही, शैया पर-
ध्यान तुम्हारा ही केवल हो॥
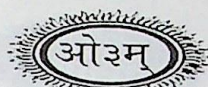
प्रभात-वन्दन (२)

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम, वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चित्, राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥

—यजुः० ३४।३५

हे भगवान्! (**वयं**) हम (**प्रातः**) प्रातःकाल (**यः विधर्त्ता**) सकल ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले (**जितं**) विजयशील (**उग्रं**) उग्र (**अदितेः पुत्रं**) अमरत्व के रक्षक, अदिति के मूर्त्तरूप (**भगं**) आपके उस दिव्य महिमामय भगरूप का (**हुवेम**) सदा आह्वान करते हैं, (**यं भगं**) जिस भगरूप के सम्मुख (**आध्रःचित्**) दरिद्र तथा निर्बल लोग (**मन्यमानः, तुरःचित्**) अभिमानी बलवान् लोग और (**राजा चित्**) बड़े-बड़े राजा भी सब समान-भाव से (**भक्षि इति आह**) 'प्रदान करो, प्रदान करो' ऐसी याचना करते हैं।

प्रभात-वन्दन

मूर्त्त विजय! पावन वैभवमय!
विश्व तुलाधर! रमा-सारमय!

दुर्बल, निर्धन, सबल, अमीर,
राजा हो या रङ्क, अधीर—

सभी सिर झुका तेरे द्वार,
खड़े हुए हैं हाथ पसार।

अपने उस अनन्त वैभव की,
एक दिखाओ हमको झाँकी॥

प्रभात-वन्दन (३)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—भगः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो, भगेमां धियमुदवाददन्नः।
भग! प्रणो जनय गोभिरश्वैः, भग! प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥

—यजुः० ३४।३६

(**भग**) हे भगवन्! (**प्रणेतः भग**) उन्नायक भगवन्! (**सत्यराधः भग**) अविनश्वर ऐश्वर्यवाले भगवन्! (**नः**) हममें भी (**इमां धियं**) अपनी इस उन्नतिशील तथा सत्यज्ञानमय बुद्धि को (**उत् अव ददत्**) पूर्णरूप से प्रवाहित करो। (**भग**) हे भगवन्! (**गोभिः अश्वैः नः प्रजनय**) हमें गौओं और अश्वों से समृद्ध करो, (**नृभिः नृवन्तः प्र स्याम**) हम पुत्रों द्वारा उत्तम सन्तानवाले बनें।

प्रभात-वन्दन

उन्नायक, हे इन्द्र! सत्य ही
कार्य-सिद्धि तेरा आधार।
निर्मल बुद्धि हमें दो, होवें
क्रियारूप सब भाव, विचार।

देन तुम्हारी ही है इसको,
यों ठुकराओ या परसाओ।
सखे! भाग्य, है प्रेम हृदय का,
स्नान करें हम, तुम बरसाओ।

घर में गौएँ दूध बहावें,
उन्नत अश्व सुसज्जित पावें।
चहलपहल, कलकल रव सुन्दर,
भरा हुआ हो हम सबका घर॥
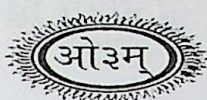
प्रभात-वन्दन (४)

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—भगः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

उतेदानीं भगवन्तः स्याम, उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम॥

—यजुः० ३४।३७

(**मघवन्**) हे भगवन्! (**इदानीं**) हम इस समय (**भगवन्तः स्याम**) तुझ भगवान् के ध्यान में रहें (**उत**) और (**प्रपित्वे**) सायंकाल के समय, (**उत अह्नां मध्ये**) मध्याह्नकाल में (**उत**) तथा (**सूर्यस्य-उदितौ**) सूर्योदय के समय तुझ भगवान् के ध्यान में रहें। (**वयं**) हम नित्य (**देवानां**) तेरे अग्नि इन्द्र आदि दिव्यरूपों की (**सुमतौ स्याम**) उत्तम भावना में बने रहें।

प्रभात-वन्दन

दिव्य भावना रहे हृदय में,
सदा रात-दिन आठों याम।
अरुण बालरवि के उगने पर,
दोपहरी, दिन ढलते, शाम॥

देवता – भगः ।

उतेदानीं भगवन्तः स्याम, उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम ।।

यजुः ३४.३७ ।।

माता प्रकृति की दिव्य-शक्ति पर पूर्ण श्रद्धा होने के बाद तीनों कालों में सभी देव-शक्तियों के अनुकूल रहने की कामना से वेद के आद्य कवि विनति करते हैं ।

'मघवन् इदानी भगवन्तः स्याम' हे तेज पुञ्ज स्वयं प्रकाश प्रभु ! हमें वर दो कि हम आज भी ऐश्वर्यशाली हों और आगे भी हमारा ऐश्वर्य स्थिर रहे ।

'वयं देवानां सुमतौ स्याम' आपकी दिव्य-शक्तियों का वरदहस्त हमारे ऊपर सदैव बना रहे ।

सब देव दयालु रहें हम पर, ऐश्वर्य हमारा रहे अमर ।
हो उषाकाल की मधुवेला, या मध्य दिवस का सूर्य प्रखर ।
संध्या की धूमिल छाया हो; अथवा शीतल रात्रि मधुर ।
सबका स्नेह-भरा मंगल मय, हाथ रहे हम पर सुखकर ।
सब देव दयालु रहें हम पर । ऐश्वर्य हमारा रहे अमर ।

प्रभात-वन्दन (५)

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

भग एव भगवाँ अस्तु, देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग! सर्व इज्जोहवीति, स नो भग! पुर एता भवेह॥

—यजुः० ३४।३८

(भगवान् एव) सब ऐश्वर्यों के अधिपति होने से ही वह प्रभु **(भगः अस्तु)** 'भग' कहलाते हैं। **(देवाः)** हे देवो! **(तेन)** उन भग से **(वयं)** हम भी **(भगवन्तः स्याम)** दिव्य महिमाशाली बनें। **(भग)** हे भग! **(तं त्वा)** उन तुझको **(सर्व इत्)** सभी **(जोहवीति)** आह्वान करते हैं **(भग)** हे भग! वह तुम **(इह)** इस संसार में **(नः पुर एता भव)** हमारे पथदर्शक नायक बनो।

प्रभात-वन्दन

भगवन्! वैभव वाले देव!
तुम हो पूर्ण दिव्यतम सुन्दर।
महादेव 'भग'! अनुकम्पा हो,
भीख माँगने बालरूप धर-

हम आए हैं पास तुम्हारे,
छिपी हुई निज दिखलाओ निधि,
खुले हाथ दो दान हमें प्रिय!
हैं पुकारते तुम्हें सभी विधि!

इस संसार-सरणि में वैभव!
आगे चलना रूप धार नव।
भूल न जावे पर मृत्युञ्जय,
यों पूरा हो जीवन-अभिनय॥

प्रभात-वन्दन (६)

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

समध्वरायोषसो नमन्त, दधिक्रोवेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो, रथमिवाश्वा वाजिन आवहन्तु॥

—यजुः० ३४।३९

(शुचये पदाय) पवित्र स्थिति को प्राप्त करने के लिए **(दधिक्रावा इव)** बुद्धि के समान **(अध्वराय)** इस हमारे यज्ञ की पूर्त्ति के लिए **(उषसः संनमन्त)** ये उषाएँ हमें प्राप्त हों। **(वाजिनः अश्वाः रथं इव)** जिस प्रकार बलवान् घोड़े रथ को ले जाते हैं, उसी प्रकार यह उषाकाल **(अर्वाचीनं)** हमारे अभिमुख हुए-हुए **(वसुविदं)** ऐश्वर्यवान् **(भगं)** प्रभु को **(नः आवहन्तु)** हमारे प्रति ले आवें।

प्रभात-वन्दन

मेधा-शक्ति सुकार्य-कारिणी
उषाकाल में हृदयहारिणी,
हमें प्राप्त हो। बने यज्ञमय
जीवन, हिंसा-हीन, मिले जय।

वेगवान् ज्यों अश्व शान से,
ले जाते हैं रथ मकान से,
उसी तरह यह प्रातःकाल,
पहुँचावे हमको तत्काल—

उस ईश्वर ऐश्वर्यवान् के
सम्मुख प्रभु करुणानिधान के।
हे वसुधापति भगवन्! आओ,
आए द्वार हमें अपनाओ॥

ओ३म्
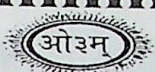
प्रभात-वन्दन (७)

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—'**उषा**'। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो, वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहानाः विश्वतः प्रपीता, यूयं पात, स्वस्तिभिः सदा नः॥

—यजुः० ३४।४०

(**भद्रा उषासः**) ये भद्र उषाएँ (**सदं**) नित्य (**अश्वावतीः**) अश्वोंवाली (**गोमतीः**) गौओं वाली और (**वीरवतीः**) उत्तम पुत्रों वाली (**उच्छन्तु**) चमकें। (**घृतं दुहानाः**) घी बहाती हुई (**विश्वतः प्रपीताः**) सब प्रकार से पूर्ण हुई-हुई (**उच्छन्तु**) चमकें। हे देवो! (**यूयं**) तुम सब (**स्वस्तिभिः**) अपनी कल्याणी रक्षाओं से (**नः सदा पात**) हमारी नित्य रक्षा करो।

प्रभात-वन्दन

सभी गृही की आवश्यकता,
सुन्दरता से पूर्ण करो,
अश्व धेनु सन्तान आज्य से
कलरवमय घर खूब भरो॥

विश्व-मुखी उन्नतियों वाली
नव-प्रभात-वेला उजियाली!
चमको। हे जगती के माली!
बेल-फूल तरु-तरु की डाली-
अपने प्यार-भरे हाथों से,
दो सँवार! फिर दो वह प्याली,
मधुर सोम से भरी, जिसे पी,
हो जावे दुनिया मतवाली॥
मिलकर सभी देव शुभचिन्तक,
रहें हमारे जन्म-जन्म तक।
भक्ति, विनय, सम्मान, प्रेम का
मेल अनोखा, योग-क्षेम का॥

हृदय लिये जोड़े अञ्जलियाँ,
भिगो अश्रुजल से देहलियाँ,
नतशिर खड़े हुए करते हैं-
वन्दन, इन्द्र! तुम्हें वरते हैं॥ (**वेदव्रत**, आषाढ़, १९९०)

देवता—इन्द्रः ॥

स नः पप्रिः पारयति, स्वस्ति नावा पुरुहुतः ।
इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः ॥

—ऋक्० ८१।६।११; अथर्व० २०।४६।२

संसारी राग-द्वेषों से संघर्ष करने के बाद जब साधक को असफलता प्राप्त होती है और वह संसारी माया-जाल के भँवर में डूबने लगता है, तो वेद का दिव्य कवि उसे भवसागर से पार उतारने के लिए सबके आदि नाविक प्रभु की ओर संकेत करके आदेश देता है!

'स इन्द्रः नः पप्रिः पारयति' वह सर्वशक्तिशाली विश्व नाविक ही पूर्ण है, उसकी नौका ही हमें जीवन-सागर के पार ले जा सकती है।

क्योंकि वही दिव्य नाव है, जो पूर्णतया प्रशान्त, अविचल और अपने मार्ग की निर्देशिका स्वयं है। किसी पर निर्भर नहीं, तभी वह पूर्ण है। उसका ही नाव है, जो 'स्वस्ति-पुरुहूतः' सर्वदा मंगलमयी और जन-जन के लिए करुणामयी है। सब उसका ही आह्वान करते हैं।

अन्य सभी नौकाएँ ऐसी हैं, जो स्वयं में अपूर्ण हैं। नाविकों की प्रतिभा पारदर्शिनी हैं, वे भी भवसागर के पार नहीं जाएँगे। क्योंकि उनके मन में करुणा नहीं है, प्राणिमात्र के लिए मंगलकामना नहीं है। उनमें विद्वेष है। उनकी नाव संसारी राग-द्वेषों की भँवरों में भटक जाएगी। केवल प्रभु की नाव ही मुझे 'विश्वा अति द्विषः' संसारी विद्वेषों के घातक थपेड़ों से बचाकर पार ले जा सकती है।

स्वस्ति नावा

कैसे उतरे पार नाव, यदि प्रभू न तारे ।
भँवरें हैं मँझधार, तेरे बिन कौन उबारे ।
सागर दुर्गम गहरा पानी, माँझी मूरख नाव पुरानी ।
तू ही तारे तो तारे, नाव अब–राह अजानी ।
भक्ति न भावे, ज्ञान न आवे, ।
कौन यहाँ जो, पथ दरसावे ।
जीवन मेरा तेरे सहारे, हाथ बढ़ा रे –
कैसे उतरे पार नाव, यदि प्रभु न तारे ।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

स नः पप्रिः पारयाति, स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः ॥

—ऋक्० ८।१६।११; अथर्व० २०।४६।२

(स पप्रिः) वे पूरण करनेवाले **(पुरुहूतः)** बहुतों से पुकारे गए **(इन्द्रः)** परमेश्वर **(नावा)** नौका द्वारा, अपने शरणरूपी तरणसाधन द्वारा **(नः)** हमें **(स्वस्ति)** कुशलतापूर्वक **(विश्वा द्विषः अति)** सब द्वेषों से लँघाकर **(पारयति)** पार लगावें।

जीवन-नौका

विश्व-सिन्धु अगम, कौन पार करे भाई!
कोई सिवा दीन-बन्धु, पड़े ना दिखाई।

कहो दिव्य 'ओम्' नाम, वही एक पूर्णकाम,
कठिन काल शान्ति-धाम, जपें सन्त साईं ॥ विश्व०

मिटें सकल राग-द्वेष, छूट चलें पाप-क्लेश।
करो नाथ! भोग शेष, मिले अब विदाई ॥ विश्व०

दूर निकट बार-बार, उठे करुण जन-पुकार।
वही कुशल करे पार, अन्त घड़ी आई ॥ विश्व०

तुम्हीं एक दीन-शरण, कृपा-नाव करो तरण।
छोड़ चलें जन्म-मरण, देर क्यों लगाई ॥ विश्व०

(सत्यकाम 'परमहंस', सम्वत् १९९०)

ऋषिः—**विश्वमना: वैयश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

न ह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे।

राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः ॥ —ऋक्० ८।२४।१२

(अंग) हे प्रिय! **(नृतः)** नचानेवाले! **(राधसे त्वत् अन्यं न हि विन्दामि)** साधना-सिद्धि के लिए तुझसे अन्य किसी को नहीं पाता हूँ। **(गिर्वणः)** हे वाणी से सम्भजनीय! **(राये द्युम्नाय शवसे च)** धन, तेज और बल के लिए [अन्य किसी को नहीं पाता]।

अनन्य-भक्ति

छोड़ नटनागर तुम्हें, जाऊँ कहाँ?
तुम-सा वरदाता भला पाऊँ कहाँ?

कीर्त्ति दो, धन दो प्रभो! बल दो मुझे,
पूर्ण हो सब कामना, फल दो मुझे।

गा रहीं सब वाणियाँ तुमको यहाँ,
भेंट मैं अन्यत्र पहुँचाऊँ कहाँ?

(पण्डित श्री वागीश्वर जी, १८ पौष, १९९४)

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** (**निचृत्**)॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि॥ —ऋक्० १।८६।१०

(**मरुतः**) हे प्राणो ! (**गुह्यं तमः**) गुहा के अन्धेरे को (**गूहत**) विलीन कर दो (**विश्वं अत्रिणम्**) सब खा जानेवालों को (**वियात**) भगा दो, (**यत् उश्मसि**) जिसे हम चाह रहे हैं उस (**ज्योतिः**) ज्योति को (**कर्त्ता**) हमारे लिए कर दो।

आलोक-भिक्षा

हृदय-गुहा के अन्धकार को,
हे मरुतो ! विलीन कर जाओ।
इन सब भक्षक अत्रि-गणों को
दूर भगाओ, द्युति से आओ।
इष्ट मार्ग वह प्यारा प्यारा,
सदा रहे आलोक हमारा,
यही मनोरथ यही विनय है,
इसमें ही जीवन की जय है॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**, संवत् १९९४)

देवता – मरुतः ।

गूहता गुह्यं तमो, वियात विश्व मत्रिणम्
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ।

ऋक्–१. ८६. १० ॥

खोलो ज्योतिर्द्वार हृदय के, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
गूढ़ अँधेरा छाया मन में,
गहन उदासी है जीवन में,
टूट गया आधार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।

जीवन का यह पथ दुर्गम है,
आँखों क आगे सब भ्रम है,
कौन करेगा पार, खोलो ज्योतिर्द्वार ।
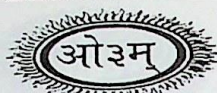
देवता – यज्ञाः ।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः ॥

ऋक्. ८. ११. १. यजु. ४. १६
अथर्व० –१९. ५९. १. ॥

'हे अग्ने त्वं वृतपा असि' हे ज्योति स्वरूप ! आपके चमत्कार का कोई अन्त नहीं । अपनी अनन्त शक्तियों का स्वयं विस्तार करके आपने उन्हें स्वयं ऐसे व्रतों में, अटल नियमों में बाँध दिया है कि कोई शक्ति अपने कार्य-क्षेत्र का, अपने अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकती । आप स्वयं उन अटल नियमों के आधार पर ही सम्पूर्ण व्यवस्था कर रहे हैं । आप ही व्रत विधाता हो और आप ही व्रत पालक । **'त्वं यज्ञेषु मर्त्येषु ईड्यः'** इसलिए हे प्रभु ! आप ही हमारे सब यज्ञों में पूजनीय हो और आप ही मानव-जगत के वन्दनीय हैं ।

कैसा यह विचित्र व्यापार ।
उन नियमों में बँधे आप ही जिनमें बाँधा था संसार ।
अपनी दिव्य शक्तियों को भी मर्यादाओं में बाँधा ॥
अपने ही विधान को अपनी सीमाओं में साधा,
अपने ही तत्वों से तूने बना लिया संसार ॥

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगार्षी गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वमग्ने व्रतपा असि, देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः ॥

—ऋक्० ८।११।१; यजु० ४।१६; अथर्व० १९।५९।१

(**अग्ने**) आत्मन्! (**त्वं**) तू (**व्रतपाः**) व्रतपालक (**असि**) है, (**देवः**) तू देव है (**आ**) और (**मर्त्येषु**) हम मनुष्यों में (**आ**) समन्तात् है, समाया हुआ है। (**त्वं**) तू (**यज्ञेषु**) यज्ञों में (**ईड्यः**) पूजनीय है।

यजनीय

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाए हुए हो।
मधुर रूप अपना बिछाए हुए हो॥

तुम्हीं व्रत-विधाता नियन्ता जगत् के।
स्वयं भी नियम सब निभाए हुए हो॥

प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी।
तुम्हीं दूर तुम पास आए हुए हो॥

करें हम यजन पुण्य शुभकर्म जितने।
सभी में प्रथम स्थान पाए हुए हो॥

तुम्हारी करें वन्दना देव! निशिदिन।
तुम्हीं इस हृदय में समाए हुए हो॥

(श्री निरञ्जन देव 'प्रियहंस', माघ, १९८८)

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम! रारन्धि नो हृदि, गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये॥ —ऋक्० १।९१।१३

हे सोम! (**गावो न यवसेषु**) जैसे जौ के खेतों के बीच में गौएँ रमण करती हैं और (**मर्यः स्व ओक्ये इव**) जैसे मनुष्य निजी घर में निवास करता है, वैसे ही (**नः हृदि आ रारन्धि**) तुम हमारे हृदय में आकर सदा रमण करो।

रारन्धि
(हृदयों में सोम का रमण)

रमो रमो अभिराम!
जैसे धेनु रमें यव-वन में,
बसें मनुज निज सौख्य-सदन में,
वैसे ही प्रिय! मेरे मन में-
विहरो तुम अविराम,
भक्तों के प्रेमार्त्त हृदय में
करो हरे! विश्राम॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस', संवत् १९९०)

देवता — सोमः ।

सोम रारन्धिनो हृदि, गावो न यवसेष्वा ॥
मर्य इव स्व ओक्ये—

ऋक् – १. ९१. १३.

मन मेरे प्रिय सोम रमो ।
जैसे अपने घर-आँगन में रमते ऐसे रमण करो ॥

जैसे गौएँ वन-उपवन में, दिन भर मनमाना विहरें,
ऐसे ही प्रभु मेरे मन में, हर पल आनन्द से विहरो ॥

मुझको बस श्रम ही करने दो, अपना चाकर ही रहने दो,
बनकर इस जीवन खेती के– मालिक फल का भोग करो ॥

आओ मेरे मन मन्दिर में जैसे सब अपने ही घर में
आते । अतिथि नहीं गृहस्वामी बनकर प्रभु तुम भी विचरो ॥

देवता – आत्मा।

यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व० १०.७.३१.॥

यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व १०.७.३२.॥

विश्व पुरुष के कालातीत विराट रूप के साक्षात्कार के बाद वेद का आद्य ऋषि परम ब्रह्म की वन्दना करता है–

'यः भूतं च भव्यं च अधितिष्ठति'—जो भूत, भविष्यत् के सभी कालों का अधिस्वामी है, त्रिकालातीत है; **'यश्च सर्वं अधितिष्ठति'**–जो त्रिभुवन से भी महान् है और नित्य तथा सर्वव्यापक है।

यस्य च स्वः केवलं–जो विशुद्ध द्वन्द्वातीत आनन्द का स्वामी है;....

....**'यस्य भूमिः प्रमा'**–यह विशाल भूमि जिसके चरण हैं; **'उत अन्तरिक्षं उदरम्'**–यह आकाश जिसके मध्य भाग में है ; **यः 'दिवं मूर्धानं चक्रे'**–अन्तरिक्ष लोक के ज्योतिर्मय ग्रह-उपग्रह जिसके मस्तक की शोभा हैं; **'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'**– उस विराट पुरुष ब्रह्म को हम नम्र प्रणाम करते हैं।....

नम्र प्रणाम

भूत भविष्यत् वर्तमान का,
जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योम में व्याप्त हो रहा,
जो त्रिकाल का है स्वामी ॥ १ ॥

निर्विकार आनन्द कन्द है,
जो कैवल्य रूप सुखधाम।
उस महान् जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम् ॥ २ ॥

कोटि-कोटि योजन युग फैली,
पृथिवी जिसके चरण समान।
मध्य भाग में अन्तरिक्ष को,
रखता है जो उदर समान

शीर्ष तुल्य जिसके हैं शोभित,
ये नक्षत्र लोक अभिराम।
उस महान् जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम ।.

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

(एक)

यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अथर्व० १०।८।१

(**यः**) जो (**भूतं**) अतीतकाल (**च**) और (**भव्यं**) भविष्यत् काल का (**अधितिष्ठति**) स्वामी है, (**यश्च**) और जो (**सर्वं अधितिष्ठति**) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वामी है, अर्थात् जो नित्य और सर्वव्यापक है, (**यस्य च स्वः**) और जिसका आनन्द (**केवलं**) विशुद्ध, अर्थात् द्वन्द्वातीत है, (**तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**) उस सर्वतोमहान् ब्रह्म को नमस्कार है।

प्रणमन (१)

भूत भविष्यत् वर्तमान का,
जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योम में व्याप्त हो रहा,
जो त्रिकाल का है स्वामी।

निर्विकार आनन्द-कन्द है,
जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान् जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

ऋषिः—**अथर्वा क्षुद्रः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड् बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

(दो)

यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अथर्व० १०।७।३२

(**भूमिः**) यह पृथिवी (**यस्य**) जिसके (**प्रमा**) चरण हैं, (**उत**) और (**अन्तरिक्षं**) यह आकाश (**उदरम्**) पेट है, (**यः**) जो (**दिवं**) द्युलोक को (**मूर्धानं चक्रे**) मस्तक बनाए हुए है, (**तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**) उस सर्वतोमहान् ब्रह्म को नमस्कार है।

प्रणमन (२)

सत्यज्ञान की परिचायक यह
पृथ्वी ज़िसके चरण महान्,
जो इस विस्तृत अन्तरिक्ष को
रखता है निज उदर समान।

शीर्ष-तुल्य है जिसके शोभित
यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वर को है
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

देवता – अध्यात्मम् ।

यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमा च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्रे आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व० १०. ७. ३३ ॥

यस्यवातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

अथर्व० १०. ७. ३४ ॥

विश्वपुरुष की अनन्त ज्योति के प्रतीक सूर्य, चन्द्र, अग्नि के अभिमुख हो ऋषि उसके ज्योतिर्मान रूप की वन्दना करता है—

'सूर्यः पुनर्णवः चन्द्रमा च यस्य चक्षुः' — सूर्य और नित नयी कला से चमकनेवाले चन्द्र जिस विराट पुरुष के चक्षु समान हैं; **'यः अग्निं आस्यं चक्रे'**—और सर्वत्र व्याप्त अग्नि जिसकी मुख कान्ति को व्यक्त करती है; ....

...**'वातः यस्य प्राणापानौ'** – यह वायु जिसके प्राणापान तुल्य है; **अंगिरसः यस्य चक्षुः अभवत्** – विश्व के सब प्रकाशमान् पिण्ड जिसकी नेत्रज्योति से प्रदीप्त हैं; **दिशः यस्य प्रज्ञानी** – दशों दिशाएँ पताकाओं के समान जिस विश्व शक्ति का ज्ञान देनेवाली हैं; **'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'** — उस सर्वतो महान् ब्रह्म को नमस्कार है ।

नम्र प्रणाम

जिसकी दिव्य ज्योति से भासित,
चन्द्र-सूर्य दो दीप्त नयन।
आदि सृष्टि कल्पान्त प्रकाशित,
करता जो इनका प्रणयन।

हव्य वाहिनी अग्नि यज्ञ की,
जिसकी कान्ति ललाम।
उस महान् जगदीश्वर को है।
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम्।

जिसके प्राणापान तुल्य है,
इस जगती का मंद पवन।
विमल दृष्टि-सम फैल रही है,
नक्षत्रों की ज्योति-किरण।

इस जग के व्यवहार-हेतु है,
स्पष्ट किया जिसने दिग्ज्ञान।
उस महान जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम्।

ऋषिः—**अथर्वा क्षुद्रः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पराविराडनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

(तीन)

यस्य सूर्यश्चक्षुः, चन्द्रमा च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्रे आस्यं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अथर्व० १०।७।३३

(सूर्यः) यह सूर्य **(च)** और **(पुनर्णवः चन्द्रमा)** फिर-फिर नया होनेवाला यह चाँद **(यस्य चक्षुः)** जिसकी आँखें हैं, **(यः)** जिसने **(अग्निं)** अग्नि को **(आस्यं चक्रे)** मुख बनाया है, **(तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः)** उस सर्वतोमहान् ब्रह्म को नमस्कार है।

प्रणमन (३)

यह चमकीले चन्द्र सूर्य हैं—
जिसके नित्य नवीन नयन,
सृष्टि-काल में जब कि सदा ही
करता वह इनका प्रणयन।

हव्य-वाहिनी अग्नि बनी है
जिस विराट का मुख छविमान,
उस महान् जगदीश्वर को है
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

ऋषिः—**अथर्वाक्षुत्रः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड् बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

(चार)

यस्यवातः प्राणापानौ, चक्षुरङ्गिरसोऽ भवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीः, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अथर्व० १०।६।३४

(वातः) यह वायु **(यस्य प्राणापानौ)** जिसके प्राण और अपानरूप है। **(अङ्गिरसः)** यह प्रकाशमान पिण्ड **(यस्य चक्षुः अभवन्)** जिसके नेत्र हैं। **(यः)** जिसने **(दिशः)** दिशाओं को **(प्रज्ञानीः)** ज्ञान करानेवाली [पताकाओं के समान] **(चक्रे)** बनाया हुआ है, **(तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः)** उस सर्वतोमहान् ब्रह्म को नमस्कार है।

प्रणमन (४)

जिसके प्राणापान तुल्य है
इस जगती का मन्द पवन,
विमल दृष्टि-सम फैल रही है
नक्षत्रों की ज्योति-किरण।

इस जग के व्यवहार-हेतु है
स्पष्ट किया जिसने दिग्ज्ञान,
उस महान् जगदीश्वर को है
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम ॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस', २९ मार्गशीर्ष, १९९४)
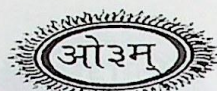
ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**दैवतः** ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥

—अथर्व० १०।८।१८

(स्वर्गं पततः) स्वर्ग को जाते हुए **(अस्य)** इस **(हरेः हंसस्य)** ह्रियमाण या हरणशील जीवात्मा हंस के **(पक्षौ)** पङ्ख **(सहस्राह्ण्यं)** सहस्रों दिनों से **(वियतौ)** खुले हुए हैं, फैले हुए हैं **(सः)** वह हंस **(सर्वान् देवान्)** सब देवों को **(उरसि)** अपने हृदय में **(उपदद्य)** लिये हुए **(विश्वा भुवनानि)** सब भुवनों को **(संपश्यन्)** देखता हुआ **(याति)** जा रहा है।

हंस!

है कहाँ मञ्जिल तुम्हारी ?

दिन हज़ारों हो गए तुमको, सुनो हे हंस सुन्दर!
पंख खोले स्वर्ग ही की ओर यों उड़ते निरन्तर।
किन्तु तुम में और दिव् में कम हुआ कुछ भी न अन्तर,
दूर होता ही गया वह, तुम बढ़े ज्यों-ज्यों निकटतर।
है तुम्हारी चाल न्यारी!

बन्धनों में भी लगाए प्रगति को अपने गले तुम,
तज त्रिविष्टप और मानस, यातनाओं में जले तुम,
जन्म ही से उत्पतन का दूध पी मानो पले तुम,
जो कि मञ्जिल पर पहुँच कर भी सदा उड़-उड़ चले तुम।
व्योम के सुन्दर विहारी!

है कहाँ मञ्जिल.... ?

हैं अतुल मोती तुम्हारे मानसर ही के किनारे,
स्वावलम्बी हो, नहीं परलोक के तुम हो सहारे,
संग संग समस्त दिव् के देवता फिरते तुम्हारे,
तुम स्वयं ही स्वर्ग हो, तुमसे नहीं कुछ स्वर्ग न्यारे,
किन्तु फिर भी तुम भिखारी।

युक्त हो अमरत्व से भी, युक्त हो अजरत्व से भी,
युक्त हो पूर्णत्व से भी, युक्त हो देवत्व से भी,
सूत्र जो सब सूत्र का है युक्त हो उस तत्व से भी,
और यह होते हुए भी तुम नये मनुजत्व से भी-
क्यों तुम्हें निज भूल प्यारी ?

लोभ में परलोक के निज लोक ही उजड़ा तुम्हारा,
बुद्धि के मद में मिटा अन्तःकरण का ज्ञान सारा,
और व्यापक ज्ञान की धुन में मिटा व्यक्तित्व प्यारा,
अन्त की सुधि में गया छिप 'आदि' का वह सांध्यतारा-
हो गयी यह रात भारी।

है कहाँ मञ्जिल..... ?

काम बनने का नहीं जब तक नहीं निष्काम होगे,
नाम होने का नहीं जब तक नहीं गुमनाम होगे,
प्रगति होने की नहीं जब तक न पूर्ण विराम होगे,
मार्ग मिलने का नहीं जब तक नहीं तुम वाम होगे-
बर्हिमुख पथ के पुजारी!

सब गुणों से युक्त भी होते हुए गुणहीन निकले,
इन्द्र और कुवेर भी होते हुए तुम दीन निकले,
ज्ञानमय होते हुए अज्ञान में तल्लीन निकले,
मुक्त भी होते हुए परतन्त्र और अधीन निकले-
शक्ति सब तुमने बिसारी।

बुद्धि से कह दो कि 'तू अब सर्वथा निरुपाय हो जा'
शक्ति से कह दो कि 'तू अब सर्वथा असहाय हो जा'
ध्यान से कह दो कि 'अन्तर्ध्यान हो मृतप्राय हो जा'
और अपने से कहो 'तू ब्रह्म का पर्याय हो जा'-
कर समर्पित सिद्धि सारी।
है यहीं मञ्जिल तुम्हारी॥

(**श्री जगन्नाथ प्रसाद,** २० मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – आत्मा ।

सहस्राहण्यं वियतावस्य पक्षौ, हरे र्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्सर्वानुरस्यु पदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥

अथर्व–१०. ८. १८.॥

संसार विरक्त हंस रूपी जीवात्मा जगत के समस्त ज्ञान-विज्ञान को हृदयंगम करके भी किस अज्ञात देवता की खोज में उड़ता रहता है ? इस चिरन्तन प्रश्न का उत्तर वैदिक ऋचा देती है :—

हमारी इस जीवन-यात्रा का लक्ष्य केवल विश्वात्मा की खोज है। लाखों वर्षों से यह खोज चल रही है। हमारा हंस हृदयस्थ आत्मा '**स्वर्ग पततः अस्य हरेः हंसस्य पक्षौ सहस्राण्यं वियुतौ**' अनन्त काल से यह यात्रा कर रहा है। उसके पंख कभी बन्द नहीं होते। अपने ज्ञान और कर्म के पंख खोलकर वह देवलोक की यात्रा में सदैव उड़ता ही रहता है।

सभी देवता इस देव यात्रा में उसकी सहायता करते हैं। अग्नि-वायु-आकाश अपनी शक्तियों से उसे समर्थ बनाते हैं। संसार के सब भोग उसे सहज ही प्राप्त हैं। वह हंस '**सर्वान् देवान् उरसि उपदद्य**' इन सबका आस्वाद लेता है।

किन्तु इस भोग से भी उसे सन्तोष नहीं होता। उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

इन्द्रियों से सब देखता हुआ भी वह हंस '**विश्वा भुवनानि संपश्यन् याति**' मन से ऊपर उड़ताही रहता है। उस विश्वात्मा की खोज में कल्पना के पंख खोले विश्व के सब लोकों के अनन्त नीलाकाश में उड़ता रहता है।

परम हंस

उड़ रहा है हंस मेरा - उड़ रहा है।
युग-युगों से पंख खोले, खोजता अपना बसेरा।
हंस मेरा उड़ रहा है - उड़ रहा है हंस मेरा।
देवताओं का हृदय में धारकर वरदान भी।
विश्व के सब ज्ञानियों से सीखकर विज्ञान भी।
उड़ रहा बेचैन होकर तीन लोकों का चितेरा।
हंस मेरा उड़ रहा है-उड़ रहा है हंस मेरा।
उड़ रहा है और उड़ता जा रहा अविराम है।
देखता लीला जगत की भोग से उपराम है।
जा रहा है पिय-मिलन को नील नभ में वह अकेला।
हंस मेरा उड़ रहा है-उड़ रहा है हंस मेरा।

देवता—इन्द्रः ।

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे, स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ ऋक्—१.७.७. ॥
अथर्व—२०,७०.१२. ॥

दाता रे, दाता रे । पल-पल देता जाता रे ।
माँग बिना तू देता सदा ही, नव-नव अनगिन देता सदा ही,
दिन पल छिन मैं लेता ही,
तेरे द्वार से दान सदा मैं, पाता रे-
तेरी महिमा गरिमा गाते, गीतों से हम तुझे रिझाते ।
पर हे देवता ! तेरा गुण-गौरव,
कौन कहो गा पाता रे । दाता रे-दातारे ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे, स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

—ऋक्० १।७।७; अथर्व० २०।७०।१३

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं **(वज्रिणः इन्द्रस्य)** पापवर्जक इन्द्र की **(ये उत्तरे स्तोमाः)** जो अधिक अधिक स्तुति करता जाता हूँ—उस सब से भी **(अस्य सुस्तुतिम्)** उसकी स्तुति का पार **(न विन्धे)** नहीं पाता हूँ।

न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्

तू दाता देता ही जाता, मैं भिक्षुक लेता ही जाता।
देने की सीमा ना तेरे, लेने का कुछ अन्त न मेरे।
प्रभो! उऋण कैसे हो पाऊँ, किन दामों में मूल्य चुकाऊँ।
केवल तेरी महिमा गा गा, कर लेता हूँ जी कुछ हलका।
कितना-कब तक चाहे गाऊँ, कभी नहीं जी भर गा पाऊँ।
आँखों से दरिया बह जाता, रुँधता कण्ठ मूक रह जाता।
क्या जानूँ? बेबस हूँ कितना, फिर भी इसमें रस है इतना।
आ जा मेरे दिल के राजा, आँखों में बन ज्योति समा जा।
दो शरीर हों, एक प्राण हो,
दो होकर भी एक जान हो॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
२५ मार्गशीर्ष, १९९१)

देवता – का !

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः,
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋक् – १०. १२१ ४. ॥
यजुः – २५, १२.

आत्मभाव में पूर्णतः लीन हुए ऋषि को जब जगत् की समस्त महिमामय विभूतियों में परमदेव की अनुभूति हुई, तब वह अनायास पुकार उठा –

हम भी उसी आनन्दमय परमदेव के चरणों में अपने जीवन का नैवेद्य अर्पित करते हैं। '**महित्वा इमे हिमवन्तः आहुः**' जिसके अनन्त विस्तार को देखकर हिमाच्छादित हिमालय के शिखर भी मौन आराधना में व्यस्त हैं।

'**यस्य च समुद्रं रसया सहहाहुः**' और जिसकी महिम ने पृथ्वी के चारों ओर फैले महासिन्धुओं की वाणी को मुखर कर दिया है। उसके हृदय की भावनायें गम्भीर घोष बनकर अनवरत संगीत में व्यक्त होती हैं।

'**इमा प्रदिशो यस्य बाहू**' उसी विश्वात्मा की दिशा रूप बाहों ने समस्त ब्रह्माण्ड को अपने आलिंगन में बाँधा हुआ है। सृष्टि के सभी जड़-चेतन जीवन उसकी गोद में उसी विश्व माता के आँचल में पल रहे हैं।

'**कस्मै देवाय हविषा विधेम**' हम सब मानव उस विश्वात्मा के ही चरणों में अपना हविष चढ़ाते हैं। उसके यज्ञ में हवि बनकर जीने की कामना करते हैं।

कस्मै देवाय
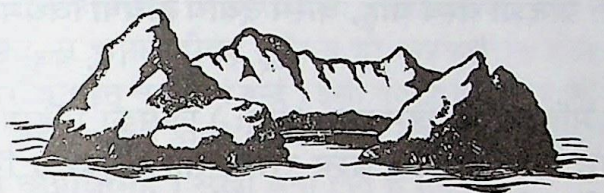
रे मन, उसका कर चिन्तन।
ऊँचे-ऊँचे व्योम विचुम्बित
शैल-शृंग उत्तुंग हिमावृत
करते जिसका आराधन
रे मन उसका कर चिन्तन।

विरहिन व्याकुल-सी सरिताएँ,
बढ़ा-बढ़ाकर दीर्घ भुजाएँ
करती जिसका आवाहन।
रे मन उसका कर चिन्तन।

युग-युग के वियोग से विह्वल,
सागर जिसे पुकारे प्रतिपल
'करता जिसका अभिनन्दन
रे मन उसका कर चिन्तन॥
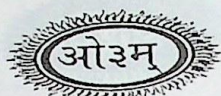
ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्॥
स्वरः—दैवतः ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋक् १०।१२१।४; यजुः २५।१२

(यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः आहुः) जिसकी महिमा को ये बर्फ़ीले पहाड़ कह रहे हैं, **(यस्य रसया सह समुद्रम्)** जिसकी महिमा नदियों-सहित यह समुद्र कह रहा है, **(इमाः प्रदिशः यस्य बाहू)** ये दिशाएँ जिसकी बाहु-तुल्य हैं, **(कस्मै देवाय हविषा विधेम)** उस सुखस्वरूप देव का हम पूजन करें।

कस्मै देवाय
(उस सुखस्वरूप देव का पूजन)

रे मन! उसका कर चिन्तन,
ऊँचे ऊँचे व्योम-विचुम्बित,
शैल-शृङ्ग, उत्तुंग हिमावृत,
अविचल पर्वत हैं महिमान्वित-
करते जिसका आराधन।
विरहिन व्याकुल सी सरिताएँ
बढ़ा बढ़ा कर दीर्घ भुजाएँ
गा-गाकर जिसकी महिमाएँ-
करतीं अविरत आवाहन।
युग युग के वियोग से विह्वल
सागर जिसे पुकारे प्रतिपल
सभी दिशाएँ फैला आँचल
करतीं जिसका अभिनन्दन।
रे मन! उसका कर चिन्तन॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस', २८ मार्गशीर्ष, १९९४)

ओ३म्

ऋषिः—**भर्गः प्रागाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद् बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

न पापासो मनामहे, नारायासो न जल्हवः।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते, सखायं कृणवामहै॥

—ऋक्० ८।६१।११

हम (**न पापासः, न अरायासः, न जल्हवः, मनामहे**) न तो पापी होकर, न कृपण होकर और न ही अप्रज्वलित होकर इन्द्र को मनाते हैं। (**यत् इत् नु वृषणं इन्द्रं**) इसी कारण हम बलवान् सुखवर्षक परमेश्वर को (**सुते**) अपने यज्ञकर्मों में (**सचा**) सम्मिलित होकर (**सखायं कृणवामहै**) सखा बना लेते हैं।

प्रेम का रहस्य

विमल चित्त है, धुल गए पाप सारे,
न कलुषित रही भावना अब हमारी।
तुम्हें स्नेह से जब हृदय में बिठाया,
मधुर मूर्त्ति जब से बसाई तुम्हारी।

जली है शिखा प्रेम की स्निग्ध उज्ज्वल,
सभी कुछ तुम्हें कर रहा हूँ समर्पित।
तुम्हें प्राप्त हैं पूर्ण वैभव जगत् के,
इसी से हुआ आज मैं प्रेम-गर्वित।

सभी शक्तियाँ विश्व में हैं तुम्हारी,
तुम्हीं कर रहे पूर्ण सब कामनाएँ।
इसी से प्रभो! तोड़कर विश्व-बन्धन,
तुम्हीं से सभी भक्तजन लौ लगाएँ।

कहीं सन्तजन हों बहे प्रेम-धारा,
कहीं यज्ञ या हरिकथा हो रही हो।
तुम्हारी मधुर मूर्त्ति रहती हृदय में,
यही ज्ञात होता, तुम्हीं हो, तुम्हीं हो।

मिला सख्य कैसे? विमल हो प्रभू से
किया स्नेह जिसने वही जानता है,
मिटाया है जिसने खुदी को हृदय से
वही प्रेम का भेद पहिचानता है॥

देवता–निर्ऋतिः।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो, अयमस्मान्विचृता बन्ध पाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति, तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥

अथर्व. ६.६३.२.॥

भगवान की नियामक यमशक्ति को जीवन की पथ-प्रदर्शिका मानकर उसके प्रति नतमस्तक होकर वेद का ऋषि पुकार उठता है—

'यमाय नमो अस्तु' हे मृत्यु देवता! यम् स्वरूप भगवान! हम मरण-धर्म मानव आपकी वन्दना करते हैं।

सृष्टि और संहार के सर्वनियन्ता स्वामी, आपकी मृत्यु में भी जीवन का बीज छिपा है। आपके **'तिग्म तेजो'** तीक्ष्ण-तेजस्वी काँटों में भी फूलों की रक्षा का संकेत है। रास्ते के काँटे हमें पथभ्रष्ट होने से सावधान करते हैं।

हे मुक्तिदाता! **'अयमस्मान् बन्ध पाशान् वि-चृत'** आप अपने तीक्ष्ण शूलों से हमारे बन्धनों को काटते हो।

अतः हे **'यमः पुनः इत् त्वा ददाति'** नियामक यम देवता फिर हमें पूर्ण मुक्ति के लिए आपको समर्पित करते हैं। मृत्यु भी मुक्ति का मार्ग बनकर ही हमारे सामने आती है। इसलिए हम फिर **'मृत्यवे नमः'** मृत्यु को प्रणाम करते हैं।

नमस्कार, पथ के हे कण्टक। नमस्कार हे शूल! महान्।
सबके बंध-पाश का कर्तन करके करते मुक्ति प्रदान।

सावधान करते मानव को, मर्यादा का स्मरण दिलाते।
यम स्वरूप धर इस पृथ्वी पर, कँटक बनकर तुम आते।
नमस्कार हे भक्ति देवता, मृत्यु रूप भगवान।

ओ३म्
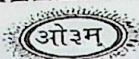
ऋषिः—द्रुहणः ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो, अयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति, तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥

—अथर्व० ६।६३।२

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते! हे भारी विपद्! **(ते नमः अस्तु)** मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। **(तिग्मतेजः)** हे तीक्ष्ण तेजवाली! तू मेरी **(अयस्मयान् बंधपाशान्)** बड़ी सुदृढ़ बाँधनेवाली बेड़ियों को **(विचृत)** काट डाल। **(यमः)** नियमन करनेवाला परमेश्वर **(पुनः इत्)** फिर भी **(मह्यं)** मेरे लिए **(त्वां)** तुझे **(ददाति)** दे रहा है। **(तस्मै)** उस **(मृत्यवे)** मृत्युरूप, संहारक **(यमाय)** नियमन करनेवाले परमेश्वर को भी **(नमो अस्तु)** मेरा नमस्कार है।

कण्टक?

शत नमस्कार, शत नमस्कार।
मेरे पथ के कण्टक उदार!!
वास्तविक तथ्य को भूला-सा मैं सपने ही में फिरता था।
मदमत्त सर्वथा डूबा-सा बस अपने ही में फिरता था।
मालूम नहीं मैं ख़ाक छानता फिरता इसी तरह कबतक।
यदि मुझे सजग कर देने पर तुल गए न होते तुम अबतक।
मेरे मतवाले चंचल पग को छिद्रित करके आर-पार॥
फूलों के चक्कर में फँसकर मैं फूला नहीं समाता था।
जब तुम लग जाते थे तब मैं विधि पर ही दोष लगाता था।
फूलों की ही मैं सुनता था, तुम को आँखें दिखलाता था।
इतने पर भी कटु प्यार तुम्हारा मुझ को गले लगाता था।
सब बुरा-भला सुनकर भी तुम करते रहते मेरा सुधार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार। मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.....

पथ बने पथिक के हेतु और हैं बने पथिक पथ के ही हित।
फिर पथिक और पथ के तुम कौन बीच में पड़नेवाले नित?
यह प्रश्न उठा करता था लेकिन बात समझ में आई अब,
पथ और पथिक दोनों ही की बस तुम से थी मर्यादा सब।
थे पथ के शोभा-मात्र फूल, इनमें पथ का था कहाँ सार॥
जिस पथ पर कृपा तुम्हारी है, है फूल नहीं रहती उस पर।

वह थोड़ा चलने पर भी करता नव साहस को अग्रेसर।
पशु भी चलते इन धूलि-धूसरित राहों को तज जान-जान।
फिर क्या निष्कण्टक होने ही से इन पर मानव स्वाभिमान-
चलकर बस निरी सुलभता पर कर देगा निज गौरव निसार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

दुर्लभ जो होती वस्तु वही बन जाती जग में मूल्यवान्।
जो दुष्कर होता वही कार्य कहलाता है जग में महान्।
यदि मृत्यु न होती इस जग में निस्स्वाद अमरता हो जाती।
यदि हार न होती इस जग में तो विजय हार को रो जाती।
मंज़िल रोती उस पथ को जो पथिकों से जाता स्वयं हार॥
रे मानव! तू रोता फिर क्यों इन सब बाधाओं को लख कर।
ये दुर्बलता की चिह्न नहीं, ये कहतीं तुझ में शक्ति अमर।
ये पतनशील जितनी उतना ही तू कर सकता है उद्भव।
हैं अगर असम्भव ये तो तू भी पूर्ण असम्भव को सम्भव-
करने वाला लेकर आया सौभाग्य अटल का सुविस्तार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

मिलती बाधाएँ हैं जितनी उतने ही मार्ग निकलते हैं।
आती विपत्तियाँ हैं जितनी उतने ही साधन मिलते हैं।
है मृत्यु मारती नहीं मग़र कहती बन सकते तुम्हीं अमर।
यदि ठीक-ठीक उपयोग करो तो अमृत-तुल्य हैं सभी ज़हर।
वाणी अणु-अणु का सार बताती बाधाओं का रूप धार॥
फिर अगर न होती बाधाएँ तो जीवन-ज्योति कहाँ जगती।
खल जाती यही अमरता तब मरने से भी कटुतर लगती।
तब अस्ति-नास्ति होते समान, होते भी यहाँ न हम होते।
तब हम न डूबते, ना उतराते, तम में ही खाते गोते।
कुछ तीखे कुश-तृण अगर सहारा देकर करते नहीं पार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

ये फूल खुशामदियों के सम बस सब्ज़ बाग दिखलाते थे।
ये केवल विषय-वासना के, पथ पर अक्सर ले जाते थे।
इन फूलों ने अपना जादू इस बुरी तरह से डाला है।
शत-शत प्रयत्न करने पर भी इनसे न छूटता पाला है।

काँटों में घसीटते रहना, इनका निशिदिन का कारबार॥
काँटा कर डाला सुखा-सुखा, काँटों ने अपना सारा तन।
बस इसीलिये कि अलंकृत हो जग पाकर निशिदिन नये सुमन।
इस पर भी रहे तिरस्कृत-से, कुछ हुआ न इनका यहाँ मान।
ये प्यासे के प्यासे ही हैं, कहती इनकी तीखी ज़बान।
दो इन्हें सहानुभूति के अपने रक्त-अश्रुओं के फुहार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

है अगर देखनी काँटों की छवि, तो कानों की बाली लख।
शोभा नियन्त्रणा की विलोक, तीरों की नोक निराली लख।
आर्यत्व सुविकसित करनेवाला कर्ण-वेध संस्कार देख।
शंकर ही बन जाते प्रलयंकर उनका यह उपकार देख।
कैसे वसुधा का बार-बार करता त्रिशूल है परिष्कार॥
वास्तविक जगत के ये प्रतिनिधि ये जगत-तथ्य के अन्तरङ्ग।
संगठन, न्याय, फिर राजदण्ड, इनमें शासन के सभी अङ्ग।
यदि हुआ अकेला तो काँटा सीता है क्षति सूची बनकर।
जब दो काँटे मिलते तो होता न्याय-तुला पर तोल मगर-
यदि तीन हुए तो कालचक्र का भी हो जाता है तार-तार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

पग-पग पर के ये शूल हमें सर्वज्ञ बनाने आए हैं।
अणु-अणु को अणु-अणु का पूरा मर्मज्ञ बनाने आए हैं।
ये सीधी राह दिखाने को करते हैं इतनी रोक-टोक़।
कण-कण की हरकर दुर्बलता बस इसी भूमि को देवलोक-
वास्तविक बनाने का विधि ने सौंपा इनको ही कार्यभार॥
यह नहीं कल्पना है कोरी या कोरी कविता की उड़ान।
अत्युक्ति नहीं है यह केवल या बस कोरा उत्साहदान।
यह निश्चित है, यह निश्चित है, यह निश्चित है, यह है निश्चित।
बस इसी धरा पर मानव में पूर्णत्व कभी होगा विकसित।
यह क्रान्तदर्शियों की वाणी, सब सिद्ध योगियों की पुकार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

यह होते भी विक्षुब्ध पड़ा तू हे मनुष्य! फिर रोता क्यों?
दो-चार बिन्दु के रक्तपात से क्रुद्ध शूल पर होता क्यों?

करता है ऐसे बड़े प्रश्न, क्यों रक्तपात होता जग में।
क्यों युद्ध और हिंसा भू पर, क्यों काँटे उन्नति के पग में ?
क्यों बाधक सुख के पथ में दुःख, क्यों द्युति के पहले अन्धकार ?
रे तार्किक मानव! तुझे दार्शनिक अन्धकार अबतक घेरे।
यह रक्तपात तेरा न किन्तु है दुर्बल भावों का तेरे।
दुर्बल जन आप स्वयं मरते हैं, उन्हें मारता कौन भला!
यदि शुभ्र अहिंसा है अभीष्ट तो दुर्बलता का घोंट गला-
अन्यथा न मिटने की हिंसा, हों जग में आन्दोलन हज़ार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

"अच्छी से भी अच्छी राहों पर अन्धाधुन्ध प्रगति वर्जित।
है केवल प्रगति नहीं उन्नति" करते रहते काँटे इंगित;
पथ नहीं पथिक का कुछ अपना पथ का अधिपति है और कहीं।
बस चलने ही से कोई होता पथिक नाम के योग्य नहीं-
सब पथिक नहीं इस देवयान-पथ पर चल सकते साधिकार॥
स्वागत विपत्ति, तुम महाकालिका का ले आई हो विकट त्रास।
काँटों का पहने ताज और हाथों में ले जग का विकास।
जो समझ गए वे देख रहे इन काँटों में मधुमय प्रकाश।
तुम सस्ते ही में सब पापों का कर देती हो सर्वनाश।
तुम नहीं अन्ध क्रीड़ाएँ हो, सर्वथा अकारण निराधार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

शत नमस्कार.........

तुम उज्ज्वल मार्ग-प्रदर्शक हो, हो यद्यपि ऊपर से काली।
दैवीय कृपा की सहज अकृत्रिम तुम फूलों की हो डाली।
तुम तीक्ष्ण तेज वाली देवी, बन्धन-विमुक्त करने वाली।
लो देवि निर्ऋते! तुम्हें समर्पित नमस्कार की यह प्याली।
तुम मृत्युरूप संहारक ईश्वर-सम कल्याणी, निर्विकार॥
तुम अन्तःकरण-तुल्य चुभतीं, तुम अनुभव लेकर आती हो।
तुम मर्मभरी पीड़ाओं का मृदु उत्सव लेकर आती हो।
नियमन करने वाले ईश्वर का वैभव लेकर आती हो।
विधि के विधान में पूर्व-नियत, जन-उद्भव लेकर आती हो।
शत नमस्कार उस जगत-नियन्ता को जिसके तुम चमत्कार॥
शत नमस्कार, शत नमस्कार! मेरे पथ के कण्टक उदार!!

(श्री जगन्नाथ प्रसाद, ९ पौष, १९९४)

देवताः — सोमः पवमानः ।

उच्चा ते जातमंधसो, दिविसद् भूम्याददे
उग्रं शर्म महिश्रवः ।

साम ५.६.१ ऋक् ४:६१।१०

परम व्योम की असीम ऊँचाइयों से लेकर धरती के गहन गह्वरों तक में व्याप्त स्वर तरंगों की अनुभूति के बाद वेद का आद्यकवि नादब्रह्म से निवेदन करता है ।

हे स्वराधीश मेरी हृदय वीणा के तार जब आपके **'उच्चा दिविसद्'** देवलोक में व्याप्त **'उग्रं महिश्रवः'** उग्र आनंदमय स्वरों से मिल जाते हैं तो **'शर्म'** मेरा रोम-रोम पुलकित हो जाता है ।

उस समय आपके अदृश्य स्वराघात से मेरी वीणा के तार झनझना उठते हैं और उनसे आपके ही स्वरों का अजस्र प्रवाह बह उठता है ।

आपकी **'अन्धसः जातम्'** प्राणप्रसविनी स्वरधारा ही जगत के प्रसुप्त चैतन्य को जगाती है, और प्रकृति को प्राणप्रसू बनाती है, वही **'भूम्याददे'** भूमि पर उतरती है ।

हे प्रभु, असीम व्योम में व्याप्त उन स्वर-सागरों को भूमि पर तब तक अनंत वर्षा करने दो, जब तक यह भूमि भी आपके स्वर-सरोवर में डूबकर स्वरमय न हो जाये और हमारे हृदय के तारों से स्वयं ही आपके दिव्य स्वरों के अजस्र प्रवाही झरने न फूट पडें ।

दिव्य गीत

देवलोक के व्योम विहारी,
कवि के मधुर अलौकिक स्वर ।
दिव्य गीत बनकर आते हैं,
अन्तरिक्ष से धरती पर।

उन गीतों से सम्मोहित हो,
सूर्य-किरण करती नर्तन ।
और सुधांशु अमृत बरसाता,
गन्ध उड़ाता मन्द पवन।

हे कवि दूर लोक के वासी,
छोड़ प्रवास धरा पर आओ।
मूक पड़ी मानव हृद्तन्त्री को,
झंकृत कर मुखर बनाओ ।

दिव्य उसी स्वर धारा का मैं,
एक प्रवाहित जलकण हूँ ।
उसकी ही प्रतिध्वनि के स्वर का ।
एक अकिंचन कंपन हूँ ।

उन्हीं स्वरों से लोक-लोक में
प्राणों का होता स्पन्दन।
मौन अचेतन जगत् उन्हीं के
आघातों से है चेतन।

ऋषिः—**अमहीयुः** (पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेनेवाला)॥
देवता—**सोमः पवमानः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उच्चा ते जातमन्धसो, दिविसद् भूम्याददे।
उग्रं शर्म महिश्रवः ॥ —साम पूर्वार्चिक ५।९।१; उत्तरार्चिक १।१।८;
ऋक्० ९।६१।१०; यजुः० २५।१६

हे सोम! मैं (**ते**) तेरी (**अन्धसः**) प्राणप्रद संजीवनी से (**जातम्**) पैदा हुए (**उच्चा**) ऊँचे, (**दिविसद्**) द्युलोक में विद्यमान (**उग्रम्**) स्पष्ट (**शर्म**) सुखपूर्ण आश्रय और (**महि**) महान् (**श्रवः**) श्रुति-गान को (**भूम्या**) इस भौतिक शरीर के द्वारा (**आददे**) उपलब्ध कर रहा हूँ।

राग का झूलना

रहा प्रेम का पलना झूल॥
चिति की किरणों के झूले में,
करती झिलमिल तन की धूल।
नस-नस से नाड़ी-नाड़ी से,
उठी तान सुख-मङ्गल-मूल।
राग ज्योति है, ज्योति राग है,
हिलते तार अहो! अनुकूल।
रहा प्रेम का पलना झूल॥

(**चमूपति**, फाल्गुन, १९९१)

ओ३म्
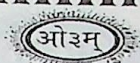
ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

विशं विशं मघवा पर्यशायत, जनानां धेना अवचाकषद् वृषा।
यस्या ह शक्रः सवनेषु रण्यति, स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥

—ऋक्० १०।४३।६

(मघवा) परमैश्वर्यवान् ईश्वर **(विशं विशं)** प्रत्येक मनुष्य में **(परि-अशायत)** लेटे हुए हैं, चुपके से व्यापे हुए हैं और **(वृषा)** वे सुखवर्षक ईश्वर **(जनानां)** सब मनुष्यों की **(धेनाः)** ज्ञान-क्रियाओं को **(अवचाकशत्)** देख रहे हैं या प्रकाशित कर रहे हैं, **(अह)** परन्तु **(शक्रः)** ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर **(यस्य सवनेषु)** जिसके सवनों में, ज्ञान-निष्पादनों में **(रण्यति)** रम जाते हैं, उन्हें स्वीकार कर रहे हैं। **(अह)** परन्तु **(शक्रः)** ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर **(यस्य सवनेषु)** जिसके सवनों में, ज्ञान-निष्पादनों में **(रण्यति)** रम जाते हैं, उन्हें स्वीकार कर लेते हैं; **(सः)** वह पुरुष **(तीव्रैः सोमैः)** अपने इन तीव्र सोमों द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानों द्वारा **(पृतन्यतः)** सब आक्रमणकारियों को, बड़े-से-बड़े हमलों को **(सहते)** सहता है, जीत लेता है।

मेरे सवनों में रम जाओ

मेरे सवनों में रम जाओ॥
आओ, प्यारे वृषा! शक्र तुम,
सोम-पान कर जाओ।
सवन हो रहे अब तक सूखे,
इन में मधु-रस लाओ।
आओ प्यारे! आओ, आओ!.....

जितना कहो, पुकारूँ उतना,
जितना कहो पिलाऊँ।
तुम्हें जगाने जन्म-जन्म तक,
नव नव मङ्गल गाऊँ।
किससे तृप्ति तुम्हारी होगी?
यह तो बतला जाओ।
आओ, प्यारे! आओ, आओ ॥...

कब से हृदय-कुटी में मेरी
बैठे, किये प्रतीक्षा।
आज पिलाने की ही आए,
लेने प्रेम-परीक्षा।
अब तो तृप्त हुए जग जाओ,
शुद्ध समर्पण पाओ।
आओ, प्यारे! आओ, आओ ॥...

(वेदव्रत, १६ भाद्रपद, १९९३)

देवता – इन्द्रः ।

विशं विशं मघवा पर्यशायत, जनानां धेना अवचाकषद् वृषा ।
यस्या ह शक्रः सवनेषु रण्यति, स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥

ऋक्–१०.४३.६

'**मघवा**' परमैश्वर्यवान् ईश्वर '**विशं विशं**' प्रत्येक मनुष्य में '**परि-अशायत**' लेटे हुए हैं, चुपके-से व्यापे हुए हैं और '**वृषा**' वे सुखवर्षक ईश्वर '**जनानां**' सब मनुष्यों की '**धेनाः**' ज्ञान-क्रियाओं को '**अवचाकषत्**' देख रहे हैं या प्रकाशित कर रहे हैं । '**अहः**' परन्तु '**शक्रः**' ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर '**यस्य सवनेषु**' जिसके ज्ञान निष्पादनों में '**रण्यति**' रम जाते हैं, इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। '**सः**' वह पुरुष '**तीव्रैः सोमैः**' अपने इन तीव्र सोमों द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानों द्वारा '**पृतन्यतः**' सब आक्रमणकारियों को, बड़े-से-बड़े हमलों को '**सहते**' सहता है, जीत लेता है ।

जन-जन के मन ईश्वर है । सब जग उसका ही घर है ।
रमणशील सब में रमता है, सब पर ही उसकी ममता है ।
वही प्रेम का सागर है, तन-मन उसका ही घर है ।
अटल रहेगी श्रद्धा जिनकी, विपदा मिट जायेगी मन की ।
उन्हें न कुछ भी दूभर है, उनका विश्वास अमर है ।
जो दुःख में सुख से रह लेते, काँटों को हंस कर सह लेते ।
जिनका खेवट ईश्वर है, उनको फिर किसका डर है ।

देवता – अग्निः ।

आ हि ष्मा सूनवे पिता, आपिर्यजत्यापये ।
सखा सख्ये वरेण्यः ॥ ऋक् १.२६.३ ॥

'**सूनवे**' पुत्र के लिए '**पिता**' पिता '**हि**' '**स्म आयजाति**' सर्वथा सहायक है ही । '**आपिः आपये**' बन्धु बन्धु के लिए '**वरेण्यः सखा सख्ये**' श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिए सर्वस्व देता है । तुम हमारे सखा भी हो, बन्धु भी हो, पिता भी हो ।

हे प्रभु मेरे परम सखा !
तुम्हीं बन्धु हो, तुम्हीं सनेही, तुम्हीं हो मात-पिता ।
दुःख में धीरज देनेवाले कष्टों में सुध लेनेवाले ।
तुम्हीं सहाय सदा, हे प्रभु मेरे परम सखा ।
कभी प्यार से पिता पुकारूँ, कभी बन्धु कह तन-मन वारूँ ।
कभी स्नेह से कहूँ सखा, हे प्रभु मेरे परम सखा ।
तुम्हीं हमारे पथ-दर्शक हो, पूर्ण हमारे हितचिन्तक हो ।
तुम्हीं से हृदय मिला, हे प्रभु मेरे परम सखा ।
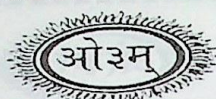
ऋषिः—शुनःशेपः (आजीगर्त्तिः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—प्रतिष्ठा-गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आ हि ष्मा सूनवे पिता, आपिर्यजत्यापये ।
सखा सख्ये परेण्यः ॥ —ऋक्० १।२६।३

(सूनवे) पुत्र के लिए **(पिता)** पिता **(हि स्म आयजाति)** सर्वथा सहायक है ही। **(आपिः, आपये)** बन्धु बन्धु के लिए **(वरेण्यः सखा सख्ये)** श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिए सर्वस्व देता है। तुम हमारे सखा भी हो, बन्धु भी हो, पिता भी हो।

कैसे?

कैसे तुम को ध्याऊँ?
शब्दों की सीमा में कैसे,
मैं असीम को लाऊँ,
कभी प्यार से 'पिता' पुकारूँ,
स्नेही बन्धु नाम उच्चारूँ,
कभी सखा कह तन-मन वारूँ,
पिता, बन्धु, स्नेही कहकर भी
पल भर कल ना पाऊँ,
कैसे तुमको ध्याऊँ??

(श्री सत्यकाम 'परमहंस', मार्गशीर्ष, १९९४)
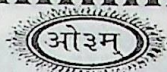
ऋषिः—वत्सः (आग्नेयः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

प्राग्नये वाचमीरय, वृषभाय क्षितीनाम्।
स नः पर्षद् अतिद्विषः ॥—ऋक्० १० । १८७ । १; अथर्व० ६ । ३४ । १

(क्षितीनां) मनुष्यों के **(वृषभाय)** अभीष्टों को बरसानेवाले **(अग्नये)** अग्नि के लिए **(वाचं प्र आ ईरय)** वाणी को प्रकृष्टता से प्रेरित कर **(स नः द्विषः अतिपर्षत्)** वह हमें द्वेषों से पार लगा दे।

स नः अतिपर्षत्
(प्रभु हमें द्वेष-भाव से हटायें)

आओ-गाएँ उसका गान।
जिसकी महिमा देख चकित-सा,
विश्व खड़ा है कुछ विस्मित-सा,
साँस रोक कर चित्र-लिखित-सा,
अर्ध चेतना अर्ध ज्ञान में,
शिशु-सा बन कर के अनजान।

जो देता, केवल देता है,
और न कुछ भी जो लेता है,
सब की नाव सदा खेता है।
जिसके शीतल प्रेम-स्पर्श से,
द्वेषों का होता अवसान।

जो सबका है पाप जलाता,
और अभीष्ट-सुधा बरसाता,
वाणी में प्रकृष्टता लाता,
महामहिम उस वृषभ अग्नि पर,
हो जावें हम सब बलिदान॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस', मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता — ऋषिः ।
अग्नये वाचमीरय, वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षद अतिद्विषः । ऋक् – १०. १८७. १.॥

वाणी का अप्रतिम महत्व जानने के बाद वैदिक ऋषि भगवान् से ओजस्विनी और मंगलदायिनी वाणी देने की विनति करता है ।

हे जातवेदस प्रभु ! '**क्षितीनां वृषभाय अग्नये वाचं ईरय**' हमारी वाणी में ऐसी ओजस्विनी प्रेरणा दो कि वह मानव मात्र के लिए कल्याण की वर्षा करे । हमारी वाणी में अनन्त शक्ति है । वह चाहे तो सृष्टि की शक्तियों का संहार कर दे और चाहे तो सबके मन में प्रेम और मंगल की तीव्र इच्छा जगा दे ।

हे कल्याणमय प्रभु ! हमारी वाणी जगत की कल्याण साधना में सहायक हो, यही कामना है हमारी ।

'**स नः द्विषः अतिपर्षद**' वह हमें द्वेषों से पार कर दे । अभी तक परस्पर विद्वेष की अग्नि को उत्तेजित करने के उद्देश्य से ही हम वाणी को प्रकर्ष बनाते हैं । हमारे विष-भरे शब्दों से सम्पूर्ण विश्व में सन्देह और संहार का वातावरण बना रहता है । हे प्रभु ! उसे सदा मंगल-कामिनी बनाओ, तभी हम इस द्वेष-भरे भवसागर के पार जा सकेंगे । और विश्व में प्रेम का साम्राज्य बनेगा ।

मंगल गान

आओ गायें मंगल गान।
जिसकी महिमा देख अचम्भित विश्व मौन, मानो निष्प्राण।
अर्धचेतना अर्धज्ञान में शिशु-सा बनकर के अनजान॥
आओ गायें उसका गान।
जो देता केवल देता है, सबकी नाव सदा खेता है॥
जिसके स्मरण मात्र से सारे द्वेषों का होता अवसान॥
आओ गायें उसका गान।
जिसका अमृतमय जल पीकर, ज्योतिर्मय रविचन्द्र दिवाकर
महामहिम उस वृषभ अग्नि से ही सब पाते हैं हम प्राण॥
आओ गायें उसका गान

देवता – वरुण ।

उतस्वया तन्वा संवदे कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत, कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम् ।।

ऋक् ७.८६.२.

विश्वात्मा में एकाकार होने की कल्पना अपूर्ण रहने पर साधक अपने मन ही में भगवान को उलाहना देते हुए कह उठता है —

हे परम सखा ! परम देव ! आपके विछोह हुए जाने कितने युग बीत गये । अब तो वह मधुर स्मृति ही मेरे हृदय में है । **'उत तत् स्वया तन्वा संवदे'** इस भरी दुनिया में भी मैं जब अकेला होता हूँ, तो आपकी स्मृति में हृदय से ही बात करने लगता हूँ, जो मेरे रोम-रोम में रमी है ।

'कदानु वरुणो अन्तः भुवानि' मैं अपने ही अन्तर से प्रश्न करता हूँ कि क्या फिर कभी तुम्हारा साक्षात् दर्शन होगा ? क्या कभी वह दिन भी आयेगा, जब मैं न केवल तुम से भेंट कर सकूँगा, बल्कि अपनापन भूलकर तुम्हारे में लीन हो सकूँगा ।

मेरा संशय भीरु मन उस एकान्त में हजारों प्रश्न करता है । **'किं अहृणानः मे हव्यं जुषेत'** वह जानना चाहता है, क्या मुझे तुम्हारा प्रेमप्रसाद मिलेगा ? क्या तुम्हारे पुनीत दर्शन से कभी मेरी प्यासी आँखें तृप्त हो सकेंगी ?

'सुमनाः मृडीकं अभिख्यम्' हे प्रभु ! मेरे व्याकुल मन के संदेहों को दूर करो । उसे ऐसी सान्त्वना दो कि वह निश्चिन्त होकर आपके द्वार पर आपसे साक्षात्कार कर सके ।

मधुर-स्मृति

प्रभु की मधुर उठे जब याद, हो जाता ऐसा उन्माद।

अपने में ही खोया-सा मन, अपने से करता संवाद।

कब होगा यह यज्ञ शेष, कब कर लोगे स्वीकार प्रसाद।

तुम में लय होने का हे प्रभु, पाऊँगा कब मैं आह्लाद।

हे प्रभु दूर करो सब संशय, दूर करो सब मेरे भय।

रहे आपके आश्वासन से, मेरा शान्त अधीर हृदय।

बुझे युगों की प्यासी, आँखों का अभिशप्त विषाद।

प्रभु की मधुर उठे जब याद, हो जाता ऐसा उन्माद।

ओ३म्
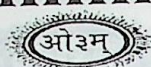
ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत, कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम्॥

—ऋक्० ७।८६।२

(**उत**) और मैं (**तत्**) उस वरुण के विषय में (**स्वया तन्वा**) अपने शरीर के साथ, अपने-आप ही में (**संवदे**) वार्त्तालाप करने लगता हूँ, (**कदा नु**) अब कब मैं (**वरुणे अन्तः**) वरुण के अन्दर (**भुवानि**) होऊँगा? (**किम्**) क्या (**अहृणानः**) अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुआ वह (**मे**) मेरी (**हव्यं**) हवि का, भेंट का (**जुषेत**) सेवन करेगा? (**कदा**) कब (**सुमनाः**) सुमना होकर मैं (**मृडीकं**) उस सुखकारी वरुण को (**अभिख्यम्**) देखूँगा, साक्षात् दर्शन करूँगा?

सुख-स्वप्न

अपने ही से कर उठता हूँ,
उनकी स्मृति में वार्तालाप
मानो मेरे ही अन्तर् में
बैठे हैं प्रियतम चुपचाप॥
सदियाँ बीत गईं बिछुड़ा हूँ,
धुँधली-सी फिर भी वह याद-
आ जाती है, जग उठता है
क्या प्रसन्न होकर प्रभु मेरा
मेरा फिर वह प्रेमोन्माद॥
कर लेंगे स्वीकृत उपहार।
पाऊँगा कब मैं प्रसादमय
वह पुनीत दर्शन साकार॥
वरुण देव के अन्दर मेरा
कब समग्र फिर होगा लय।
देव देव के पुण्य स्पर्श से
मिटे दूसरेपन का भय॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**,
मार्गशीर्ष, १९९४)

ओ३म्
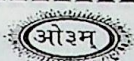
ऋषिः—एकद्यूनौंधसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि।
उपमं वाजयुः श्रवः ॥ —ऋक्० ८।८०।५

(हन्तो) तो फिर **(इन्द्र)** हे इन्द्र ! तुम **(नु)** अब **(किं)** क्यों **(आससे)** बैठे हो ? **(नः)** हमारे **(रथं)** रथ को **(प्रथमं)** सबसे आगे, प्रथम स्थान पर **(कृधि)** कर दो। **(वाजयुः)** वाज [बल, ज्ञान] चाहता हुआ **(श्रवः)** ऐश्वर्य तो **(उपमं)** तुम्हारे पास [विद्यमान ही है]।

हे देव, मेरे देव!

कब से मैं तुमको रहा टेर
टुक सोचो कितनी हुई देर
अब तो न रहो यों उदासीन
अब तो देखो इस ओर हेर। हे देव, मेरे देव!

कितने मुझसे पहुँचे आगे
कितने जाते आगे भागे
पर अब भी तुम होते न सजग
जागो, सोई किस्मत जागे। हे देव, मेरे देव!

अब उठो, न जिससे और यहाँ
मैं रहूँ, मुझे ले चलो वहाँ
सब से पहले निज रथ पाऊँ
सब से आगे मैं शीघ्र जहाँ। हे देव, मेरे देव!

तुम शक्तिमान्, तुम ज्ञानवान्
तुम ऐश्वर्यों की सकल खान
भर दो धर दो मुझमें अपनी
सब-की-सब जो निधियाँ महान्। हे देव, मेरे देव!

मैं जिससे मानव-धर्म पाल
सब तोड़ विश्व बन्धन कराल
बन राम कृष्ण जगती में
तुम में लय हो जाऊँ कृपाल!
हे देव, मेरे देव!

(श्री महावीरप्रसाद मिश्र 'निरीह'
२० पौष, १९९४)

देवता—इन्द्रः ।

हन्तो नु किमाससे,
प्रथमं नो रथं कृधिः ।
उपमं वाजयुः श्रवः ॥

ऋक् ८. ८०. ५. ॥

पथ पर आगे बढ़ने का एक ही साधन बतलाते हुए वेद का कवि प्रभु से प्रार्थना करता है—

हे इन्द्र ! ज्ञान, ऐश्वर्य के स्वामी ! आप ही हमारे जीवन-रथ के सारथि बनो । हमारी भूल थी कि हम अपने अल्पज्ञान को ही अनन्त मान बैठे थे । अपने तुच्छ बल के गर्व में अहंकारी हो गये थे । अब हम अच्छी तरह जान गये हैं कि **'वाजयुः श्रवः'** ज्ञान और ऐश्वर्य की कामना केवल आपको अपने सब कर्मों और कर्मफल को आपके हाथों में समर्पित करके पूरी होगी ।

अतः अब हे प्रभु **'किमाससे प्रथमं नो रथं कृधिः'** अब बिलम्ब क्यों ? अब तो हम पूर्ण रूप से आपके ही आश्रित हैं । अब आप हमारे सारथी बनिये और इस जीवन-रथ को उत्कृष्ट मार्ग पर सबसे आगे चलते हुए हमें प्रशस्त बनाइये ।

सारथि

हे प्रभु अब तुम बनो सारथी,
मेरे इस जीवन-रथ के ।

मन ने बहुत मुझे भरमाया,
सीधी-उल्टी राह चलाया,

दास बनाया जिन विषयों का,
उनमें ही रह गया उलझ के ।

ले लो मेरा ज्ञान-ध्यान सब,
संसारी ऐश्वर्य मान सब,

तुम्हीं सम्भालो इस नौका को,
पार करो भवसागर से ।

देवता–सोमः ।

सोम ! गीर्भिष्ट्वा वयं
वर्धयामो वचोविदः ।
सुमृलीको न आविश ।।

ऋक्–१.९१.११ ।।

आत्मानन्द अनुभव करने के बाद वेद 'का उद्गाता ऋषि विश्व में ब्रह्मानन्द प्रसारित करने की कामना से प्रेरित होकर स्वर स्वामी सोम से विनय निवेदन करता है।

'सोम ! वयं वचोविदः' हे सोम ! असीम सुख-सौन्दर्य के देवता ! हम वाणी के वरद भक्त **'त्वा गीर्भिः वर्धयामः'** अपनी वाणी से आपके आनन्द की वृद्धि करते हैं। हमारे मुख से जो गीत प्रसारित हों, वे विराट विश्व के मौन को आनन्द के कलरव से भर दें। आपके स्तुति-गीतों की गूँज से चराचर का हृदय आनन्द विभोर हो उठे।

किन्तु हे दिव्य गायक ! हे नादमय ब्रह्म ! हमारे कण्ठ से उच्चरित गीतों में यह प्रभाव तभी होगा, जब हमारे हृदय में आप स्वयं विराजमान होंगे। हमारे रोम-रोम में आपके आनन्द का उल्लास रम जायेगा।

इसलिए हे **'सुमृलीकः नः आविश'** आनन्द मय ! आप हमारे हृदय मन्दिर में अपने आनन्द का विस्तार करो। हमारी भावनाओं को शुद्ध निर्मल बना दो। हमारी हृदय वीणा में अपने ही स्वर भर दो। आनन्द-पुलकित कण्ठ से जब हम आपके गीत गायेंगे, तो विश्व का रोम-रोम आनन्द पुलकित हो उठेगा।

सोम ज्वार

गायें उसके गुण गौरव के, मधुर गीत सब मिलकर।
करें प्रवाहित उन गीतों का, सुधा-स्रोत वसुधा पर।
जो अतृप्ति को मिटा, तृप्ति का करता रहता सर्जन।
वरदानों के स्नेह-वारि का, करता मधुमय वर्षण।
उसके स्तुति-गीतों की गति में, बह जायें मन के विद्वेष।
ऐसा निर्झर बहे प्रेम का धुलें कलुष, मिट जाये क्लेश।
सूरज-चाँद-सितारे करते, नित जिसका अभिनन्दन।
ऐसे वन्दनीय ईश्वर का, हम सब भी करते वन्दन।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद् बृहती** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम! गीर्भिष्ट्वा वयं, वर्धयामो वचोविदः ।
सुमृळीको न आविश ॥ —ऋक्० १।९१।११

हे सोम! (**वयं वचोविदः त्वा गीर्भिः वर्धयामः**) हम वाग्मी अपनी वाणियों द्वारा तेरा कीर्त्तिगान करते हैं। तुम (**सुमृडीकः**) सुखदायी होकर (**नः आविश**) हमारे अन्दर प्रविष्ट होओ।

नः आविश
(प्रभु हमारे मन में प्रविष्ट हों!)

प्रभु! मेरी वाणी में ऐसा, तू अनुपम बल भर दे,
मेरा कीर्त्तन सकल विश्व को तेरा भक्त-प्रवर कर दे।
तेरी स्तुतियों से मुखरित कर-दें हम नभ का वक्षःस्थल।
तेरी महिमा गा-गाकर हम मूक विश्व कर दें चञ्चल।
मेरे गानों में गीतों में, तानों में ध्वनि बन आओ,
मेरे प्राणों में आत्मा में बन निःश्वास समा जाओ।
मेरे रोम-रोम से प्रतिपल ऐसी मृदु झंकार उठे;
सारा जग प्रेमाकुल होकर तेरा नाम पुकार उठे॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
मार्गशीर्ष, १९९४)

ऋषिः—**विरूप आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**ककुम्मती गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वं ह्यग्ने! अग्निना, विप्रो विप्रेण सन् सता।
सखा सख्या समिध्यसे॥ —ऋक्० ८।४३।१४

(**अग्ने**) हे अग्ने! (**त्वं**) तू (**हि**) निःसन्देह (**अग्निना**) अग्नि द्वारा (**समिध्यसे**) प्रदीप्त किया जाता है। (**विप्रः**) तू विप्र परम ज्ञानी (**विप्रेण**) मुझ ज्ञानी द्वारा, (**सन्**) तू सत्, श्रेष्ठ (**सता**) मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और (**सखा**) तू सच्चा सखा (**सख्या**) मुझ सखा द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, प्रकाशित किया जाता है।

ज्ञान-वह्नि

जैसे एक सुहृद् के हृदय की प्रेम-भावना से
प्रेम स्वयमेव पगे दूसरे के मन में,
जैसे मिले ज्ञानी से विमल ज्ञान सज्जन को
शील उपजावें सन्त सुजन सदन में।
वैसे ही प्रदीप्त होगी जब ज्ञान-वह्नि तभी,
होंगे प्रतिबुद्ध प्रभु मानस-भवन में,
होंगे मेरे मन में विराजमान दीनबन्धु
देखूँगा उन्हें मैं जब दीन दुःखी जन में॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**,
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता—अग्निः ।

त्वं ह्यग्ने ! अग्निना,
विप्रो विप्रेण सन् सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ॥

ऋक् ८.४३.१४. ॥

'**अग्ने**' हे अग्ने! '**त्वं**' तू '**हि**' निःसन्देह '**अग्निना**' अग्नि द्वारा '**समिध्यसे**' प्रदीप्त किया जाता है। '**विप्र**' तू विप्र परमज्ञानी '**विप्रेण**' मुझ ज्ञानी द्वारा, '**सन्**' तू सत्, श्रेष्ठ '**सता**' मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और '**सखा**' तू सच्चा सखा '**सख्या**' मुझ सखा द्वारा '**समिध्यसे**' प्रदीप्त किया जाता है, प्रकाशित किया जाता है।

'**उत् प्रपित्वे उतमध्ये अन्हाम्**' काल परिवर्तन के साथ वह नष्ट न हो। गगन में मध्याह्न का प्रखर सूर्य हो या शाम की ढलती वेला, '**उत सूर्यस्य उदितौ**' अथवा सूर्योदय की पहली किरणें ही भूतल पर उतरी हों—हमें सब समय आपकी अनुकम्पा प्राप्त होती रहे।
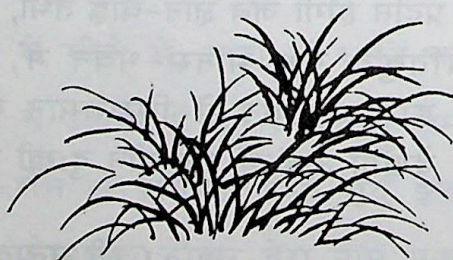
प्रेम दीप

प्रेम के आदान से ही प्रेम का दीपक जले ।

ज्यों हृदय की भावनायें, नेह का दीपक जगायें ।
ज्ञान के सम्पर्क से ही, ज्ञान का सौरभ जगायें ।

संत के सत्संग से ही, सत्य का मोती मिले ।
प्रेम के आदान से ही, प्रेम का दीपक जले ।

व्यर्थ है मेरी तपस्या, व्यर्थ मेरी प्रार्थना है ।
अर्चना में भी हमारे स्वार्थ की ही याचना है ।

पूर्ण तब होगा समर्पण शरण तेरी जब मिले ।
प्रेम के आदान से ही प्रेम की ज्योति जले ।

ओ३म्
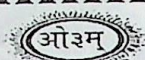
ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति ।

देवस्य पश्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति ॥

—अथर्व० १०।८।३२

मनुष्य (**अन्ति सन्तं**) सदा समीप ही विद्यमान [परमात्मदेव] को (**न जहाति**) कभी त्यागता नहीं, जुदा नहीं होता और (**अन्ति सन्तं**) समीप ही विद्यमान उसे (**न पश्यति**) देखता भी नहीं। हे मनुष्य! तू (**देवस्य**) उस परमात्मदेव के (**काव्यं**) काव्य को [इस दृश्य महाकाव्य संसार को] देख, जो काव्य (**न ममार**) कभी मरा नहीं, मरता नहीं और जो (**न जीर्यति**) कभी जीर्ण नहीं होता, पुराना नहीं होता।

उपासना

देखने के हेतु तुमको दूर तुमसे हो रहे हैं ॥

तुम हमें अनुभव-सदृश मिलते रहे हर भूल ही पर,
तुम हमें पथ-से मिले नित स्वप्न की पग-धूल ही पर,
और मन में बन सुमन हँसते तुम्हीं उर-शूल ही पर,
हो निकट से भी निकट बस अश्रु-सम दृग-कूल ही पर,
किन्तु तुम भी खो रहे हो और हम भी खो रहे हैं ॥

अश्रु बहते ही नहीं इतने निकट से देखने में,
होश रह जाते यहीं इतने निकट से देखने में,
बन्द ही आँखें रहीं इतने निकट से देखने में,
तुम कहीं हो हम कहीं इतने निकट से देखने में,
दृष्टि हम पर रो रही है, दृष्टि पर हम रो रहे हैं ॥

लग रही प्यारी सखे! तुम से कहीं छाया तुम्हारी,
वृष्टि से हे इन्द्र! प्रियतर मेघ की माया तुम्हारी,
है पुलिन से दूर की खेती कहीं बाँकी तुम्हारी,
नयन घबराते नहीं लख दूर की झाँकी तुम्हारी,
हम इसी से विरह-कंटक हृदय-बीच चुभो रहे हैं ॥

हम समझते थे कि तुम में और हम में भेद भारी,
और खो देगी न तुमको भी कवे! कविता तुम्हारी,
अब खुला, तुम में वही हे देव! दुर्बलता हमारी,
तुम विमुख उससे न जो देखे तुम्हारी काव्य-क्यारी,
काव्य-पथ के शूल भी इस हेतु अश्रु भिगो रहे हैं॥

यह सुना है काव्य-प्रेमी देख कर तुम झूमते हो,
वायु-सम जाते गले से हो लिपट मुँह चूमते हो,
मुस्कराते हो उषा-सम, भेद सारा खोलते हो,
मौन व्रत रखते हुए भी स्वप्न बन-बन बोलते हो।
इसलिये हम काव्यमय जग बीच नाव डुबो रहे हैं॥

क्यों न ये मृदु काव्य हो जाएँ अमर व्यापक तुम्हारे,
कह रहे अपनी मगर मालूम होता ये हमारे,
उर टटोल टटोल करके व्यक्त करते भाव सारे,
और वह भी बे-कहे कुछ किन्तु बस कर-कर इशारे,
जड़ प्रकृति से चेतना ले प्राण उर में ढो रहे हैं॥

थी समस्या चुप तुम्हारी हे सुकवि! चिर मौन धारी,
पर चरम सीमा कला की 'चुप' यही निकली तुम्हारी,
मुक्त करते हैं तुम्हें हम बोलने से, नभ-विहारी!
बोलती बदले तुम्हारे है तुम्हारी चित्रकारी,
सब जगह हम आँसुओं से पग तुम्हारे धो रहे हैं॥

अश्रु! बन जाओ हमारे तुम वशीकरणार्थ तारे,
उड़ चलो हे प्राण! धारण कर गरुड़ के पंख प्यारे,
मन! इधर आ तैर लहरों पर विकलता को बहा रे,
और तू अति शीघ्र ही हे बुद्धि! हम से हो किनारे,
आज अपने आप को हम जड़ प्रकृति में खो रहे हैं॥

हे प्रकृति-प्रेमी! तुझे इस बुद्धि से ईश्वर बचाए,
वह कहीं इस राह में भी देखना रोड़े न लाए,
प्राकृतिक सारल्य में अपना न अर्थ जटिल पिन्हाए,
अर्थ का न अनर्थ कर दे और कुछ का कुछ दिखाए।
मार्ग निष्कण्टक बनाने हेतु कण्टक बो रहे हैं॥

बुद्धि तू चैतन्य की हा! वर नहीं अभिशाप निकली,
गर्व और ममत्व ही की सर्वथा तू छाप निकली,
काव्य में तू डूबकर भी तर्क-पूर्ण विलाप निकली,
जड़ प्रकृति निकली न लेकिन जड़ स्वयं तू आप निकली,
बुद्धि! तेरे पाश में हम इस तरह बरसों रहे हैं॥

छोड़ कर लघु यज्ञ अपना विश्व-यज्ञ-विभूति लूँगा,
और माया में तुम्हारे सत्य की अनुभूति लूँगा,
अब न सपने आप में तुमको लखूँगा संकुचित-सा,
किन्तु अब सब में लखूँगा हे विराट्! तुम्हें विदित-सा,
आज सब के सब न जाने क्यों हमारे हो रहे हैं॥

तर्कमय दर्शन-सदृश दुर्बोधता में जो नहीं लय,
हम तुम्हारे रूप की लेंगे वही तसवीर सविनय,
जो तुम्हारे हाथ की खींची हुई है, हे दयामय!
आज श्रीमुख से कवे! अपना सुनाओ आत्म-परिचय,
बुद्धि की आलोचनाओं में न अब हम सो रहे हैं॥

धन्य धन्य कवे! हमारे आज सब सन्ताप निकले,
आज पत्थर भी तुम्हारी चेतना की छाप निकले,
छोड़कर हमको प्रकृति को लाख तुम चुपचाप निकले,
रूप में कोई न कोई सब जगह तुम आप निकले,
आज पुलकित रोम-रोम कृतज्ञता से हो रहे हैं।
देखने के हेतु तुमको दूर तुमसे हो रहे हैं॥

(श्री जगन्नाथप्रसाद, २ पौष, १९९४)

ओ३म्

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे, पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिः अजायथाः ॥

—ऋक्० १।६।३; अथर्व० २०।६९।११; साम उत्तरार्चिक ६।३।१४

हे इन्द्र! आत्मन्! तू (**मर्याः अकेतवे**) इस मरणशील और ज्ञान-शून्य शरीर में (**केतुं कृण्वन्**) जीवन और ज्ञान लाता हुआ, (**अपेशसे**) इस असुन्दर शरीर में (**पेशः कृण्वन्**) सौन्दर्य लाता हुआ, (**उषद्भिः**) उषाओं से—अपनी जागरण-शक्तियों के साथ (**सम्-अजायथाः**) उदय होता है।

मिट्टी की प्याली

देखो प्रिय! यह कैसा अचरज,
बोल उठी मिट्टी की प्याली!!

अभी शून्य-सा यहाँ मौन था,
शब्दहीन निर्जीव पौन था,
अरे! देखता इसे कौन था,
एक उपेक्षा और चरण-रज
गिर जाती थी इस पर खाली॥

ज्ञानहीन जड़ सदा अचेतन,
अति कुरूप नैराश्य-निकेतन,
शव-सी यह अस्पृश्य बुरे तन,
जाते करते घृणा सभी तज
लीन अँधेरे में थी काली॥

यह लो! जीवन-ज्योति आ गई,
क्षण में सारा ज्ञान पा गई,
सुन्दर पावन प्रभा छा गई,
नूतन उषा झाँकती सज-धज,
फैली अरुणोदय की लाली॥

देव इन्द्र का चमत्कार है,
जड़ में जीवन का प्रसार है,
बदला क्षण में रूप-सार है,
मरु की उड़ती सूखी-सी रज-
इस में स्नेह-सुधा भर डाली॥

देखो प्रिय! यह कैसा अचरज,
बोल उठी मिट्टी की प्याली!!

(**वेदव्रत**,
४ पौष, १९९४)

देवता – इन्द्रः ।

केतुं कृण्वन्नकेतवे,
पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिः अजायथाः ॥ ऋक्० १.६.३. ॥

गहन अन्धकार भरी रात्रि के बाद जब आकाश में नयी चैतन्यता के दर्शन होते हैं, तो अनायास आदि-शक्ति के चरणों में नतशिर ऋषि पुकार उठता है :—

हे इन्द्र ! उषा की अरुणाभ किरणों में आपकी ही चैतन्य-शक्ति है । जो '**अकेतवे केतुं कृण्वन्**' जगत् के सोये सौन्दर्य को जगाती है और '**पेशो मर्या अपेशसे**' मौन जगत को मधुर गीतों से तथा मिट्टी के निर्जीव आकारों को सुगंध और स्वर से भर देती है ।

उषा किरण के एक स्पर्श से समस्त जगत् प्राणवान् हो जाता है । एवं '**समुषद्भिः अजायथा**' उषा के उदय के साथ जाग्रत ज्ञान द्वारा हमारी दृष्टि में वह प्रखरता आ जाती है कि हम सब वस्तुओं की चैतन्यता का दर्शन कर सकते हैं ।

उषा संग

उषा संग जागा जग सारा,
जगा जगत् में उजियारा ।

अरुणाई छा गयी गगन में;
जगे प्राण कण-कण में ।
किरणों के झूलों पर उतरी
दिव्य स्वरों की धारा ।
जगा जगत् में उजियारा ।

फूलों में नव रंग आ गया
माटी में चैतन्य भरा
भरी नशीली गंध पवन में
अम्बर में सौन्दर्य भरा ।
अन्तर में प्रज्ञान सूर्य की,
प्रथम किरण का हुआ उदय ।

प्राणों में सुर जगे ज्ञान के,
भरें दिव्य स्वर लय ।
वही सतत् जीवन धारा
जगा जगत् में उजियारा

ओ३म्
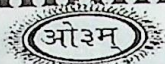
ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

यो अग्निं तन्वो दमे, देवं मर्त्तः सपर्यति।
तस्मा इदीदयत् वसु ॥ —ऋग्वेद ८।४४।१५

(**यः**) जो (**मर्त्तः**) मनुष्य (**तन्वः**) शरीर के (**दमे**) गृह में या दमन में (**देवं**) देव (**अग्निं**) अग्नि को (**सपर्यति**) सेवन करता है, यजन करता है, (**तस्मै इत्**) उसके ही लिए [वह अग्नि-देव] (**वसु**) ऐश्वर्य को (**दीदयत्**) देता है।

देखते किसे हो बन्धु?

देखते किसे हो बन्धु!
यहाँ, वहाँ, दूर दिशा
सागर सुनील व्योम
वार वार देखते हो!
खोजते विजन वन
ग्राम नदी कूल पर॥
जानता हूँ 'उसे' किन्तु
'वह' तो नहीं है यहाँ,
हुई ज़रा देर अभी
दीख-सी पड़ी थी एक
झलक, विलीन बस,
हुए शत वर्ष किन्तु
अन्धकार-अन्धकार
वहाँ उस मन्दिर में,
खोजना वृथा है वहाँ,
छान तो लिये हैं सभी......
....देखते किसे हो...... ?
कुञ्ज-कुञ्ज, ताल-ताल,
देख चलें अन्तराल
जहाँ उठता है धुआँ
घुटन-सरीखी एक
बनी रहती है सदा॥
......सुनो, कौन टेरता है।

बात कहता है कुछ
मानो रत्न-कोष के
निकट दिव्य द्वार पर
पहुँच गए हैं और
देता है प्रबोध कोई-
"वर्त्तमान वर्त्तमान
हुआ नहीं भासमान
जिसे खोजता है प्राण।"
-करो न प्रबुद्ध इसे!.....
जान पड़ता है यहीं
'अग्नि' का उदय होगा,
मिलेगा 'प्रकाश' यहीं।

आत्म-समिधा का यहाँ
दान करो बन्धुवर!
विधि से यजन करो।
कार्य रूपी यज्ञशाल
होगी संदीप्त ज्वाल,
एक अचरज भरा
दीखेगा चमत्कार,
'करोगे प्रदीप्त इसे
जितना ही बार-बार,
उतने ही तेजवन्त
काय, मन, प्राण होंगे।'
किन्तु न जलेगा कुछ॥

इसे ही प्रदीप्त करो
होगा शुद्ध बुद्ध मन,
बनेंगे प्रकाशमान
अन्तर् शरीर प्राण॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस',**
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता — आत्मा ।

न देवानामतिव्रतं शतात्मा च न जीवति
तथायुजा वि वावृते ॥ ऋक् १०.३३.९ ।

जीवन में नियंत्रण और निष्ठा के महत्व की व्याख्या करते हुए वेद का तत्वज्ञ ऋषि मनुष्य मात्र को सावधान करता है कि वे अपने निर्धारित कर्तव्य पथ पर चलते हुए अपने व्रतों का पालन करते रहें ।

सम्पूर्ण देवशक्तियाँ अपने निर्धारित पथ पर चल रही हैं, अपने व्रतों का पालन कर रही हैं । सबके गुण धर्म निश्चित हैं, उनमें कोई अपवाद सम्भव नहीं है । सूर्य-चन्द्र और तारे सब अपने निर्धारित व्रत का पालन कर रहे हैं । इस व्रत पालन के मार्ग में यदि कोई मानव बाधक बनेगा, तो नष्ट हो जायेगा ।

मानव अपने आत्मबल के आधार पर भी देवशक्तियों के व्रत में परिवर्तन नहीं कर सकता । किसी साधक ने कितने ही महान् आत्मबल का संचय किया हो, **'देवानां अतिव्रतं शतात्मा च न जीवति'** देव-शक्तियों के विरोध में रहनेवाला शतात्मा भी नष्ट हो जाता है । यदि वह प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करेगा, तो **'युजा विवावृते'** उसे कठिन-से-कठिन दंड मिलेगा, वह जीवन से हाथ धो बैठेगा । उसके सब सांसारिक संयोग समाप्त हो जायेंगे ।
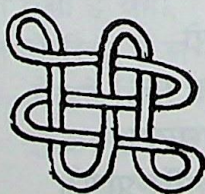
अनुशासन

सूर्य-चन्द्र नभ पवन अग्नि जल विद्युत्-किरण शक्ति तारे।
उसी नियन्ता के नियमों में बँधे चल रहे हैं सारे।

अटल नियम हैं इन देवों के, इन्हें तोड़ना है न सरल।
स्वयं मिटे जो इन्हें मिटाये, हो वह कितना क्यों न सबल।

नियम और बन्धन में प्रभु के निहित हुआ है जग-कल्याण।
इनका करके अतिक्रमण नर, पा सकता न कहीं भी त्राण।

आत्म-शक्ति का अमित बली भी, देव-शक्तियों से हारे।
इन नियमों से बँधे हुए हैं, प्रभु के अग...जग सारे।

।।ओ३म्।।
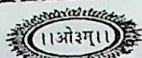
ऋषिः—कवष ऐलूषः ।। देवता—उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्रः ।।
छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

न देवानामतिव्रतं, शतात्मा चन जीवति।

तथा युजा वि वावृते।। —ऋक्० १०।३३।९

(देवानां) देवों के **(व्रतं अति)** व्रतों का उल्लङ्घन करनेवाला **(शतात्मा चन)** शतगुण वीर्य रखनेवाला भी **(न जीवति)** जीवित नहीं रह सकता **(तथा)** और **(युजा)** उसे अपने बड़े-से-बड़े संगी से भी **(विवावृते)** वियुक्त होना पड़ जाता है।

नियति

सूर्य चन्द्र नभ पवन अग्नि जल
विद्युत्-किरण, शक्ति तारे
उसी नियन्ता के नियमों में
बँधे चल रहे हैं सारे।

अटल नियम हैं इन देवों के
इन्हें तोड़ना है न सरल,
स्वयं मिटे जो इन्हें मिटाता
हो वह कितना क्यों न सबल।

नियम और बन्धन में प्रभु के
निहित हुआ है जग-कल्याण,
इनका करके अतिक्रमण नर
पा सकता न कहीं भी त्राण।

हो कितना ही क्षमताशाली
वह शतवीर्य और बलधाम,
ऐसे समय न साथी संगी
आ सकते उसके कुछ काम॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – अग्निः ।

यो अग्निं तन्वो दमे,
देवं मर्त्तः सपर्यति ।
तस्मा इद्दीदयत वसुः ॥

ऋग्वेद ८.४४.१५ ॥

अपने अन्दर की ज्योति को आत्मसमिधा से प्रदीप्त रखने का आदेश देते हुए वेद का कवि कहता है :—

यह मानव देह भगवान का निवासस्थान है। यही यज्ञशाला है। '**यः मर्त्तः तन्वो दमे देवं अग्निं सपर्यति**'— जो मनुष्य अपने हृदय-मन्दिर में बैठे आराध्य देव की अर्चना करता है, अपनी आत्मशक्ति को प्रदीप्त रखता है, '**तस्मै इत् वसुः दीदयत्**' उस आत्मवान के लिए ही भगवान् अपने समस्त वरदान देता है। जो मनुष्य स्वयं बुझे हुए मन से कर्म करेगा, उसे भगवान् के वरदान प्राप्त न होंगे।

घर का दीपक बार रे मनुवा, मन का दीपक बार।
ज्योति अन्दर की जो जागे, मिटे जगत् अँधियार।
ये तन ही तेरा मंदिर है, देवता भी तेरे अन्दर है।
अर्पण कर उसके चरणों में, भक्ति भाव उपहार।
निर्मल कर ले मन का आँगन, अपने में कर प्रभु का दर्शन।
आयेगा खुद आरति करने, सूरज तेरे द्वार।
घर का दीपक बार रे मनुवा, मन का दीपक बार।
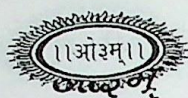
ऋषि:—**मेधातिथि: (काण्व)**॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**गायत्री**॥
स्वर:—**षड्ज:** ॥

स न: शक्रश्चिदाशकत्, दानवाँ अन्तराभर: ।

इन्द्रो विश्वाभिरूतिभि: ॥ —ऋक्० ८।३२।१२

(स:) वह **(शक्र:)** शक्तिमान् **(न: चित्)** हमें भी **(आ-अशकत्)** शक्तियुक्त करे, क्योंकि वह **(दानवान्)** दान देनेवाला **(अन्तराभर:)** अन्तस्तल को भरनेवाला है। **(इन्द्र:)** वह परमेश्वर अपनी **(विश्वाभि:)** सब **(ऊतिभि:)** रक्षाओं से हमें समर्थ करे।

विनय

जगत्-उद्यान के हे दिव्य माली!
सकल जग के विधाता शक्तिशाली!
खड़े हम दीन कब से हाथ खाली
कृपा की दृष्टि क्यों तुमने हटा ली?
न करुणा की कसर का कुछ गिला है?
तुम्हीं से तो हमें सब कुछ मिला है।
कहाँ पर नाथ! वह जावे भिखारी
जिसे हो नित्य ही की भीख प्यारी?
सुना तुमने रची यह विश्व-माया,
अधूरा खेल तुमने ही रचाया।
तुम्हें जगदीश क्या कोई कमी है?
सदा से न्यून-धन तो पुत्र ही है।

महादानी तुम्हारा नाम जग में,
प्रतीक्षा में खड़ा कब से सजग मैं
बटोही दूर से मैं आ रहा हूँ,
नहीं कुछ याद मञ्जिल पर कहाँ हूँ।

भटकता हूँ हितू कोई न मेरा
यहाँ दो चार पल का है बसेरा
यहाँ से शीघ्र ही चलना नियत है,
अगम जग-सिन्धु निश्चित भी न पथ है।
हुए छल-छिद्र जीवन की तरी में
भरेगा कौन इनको इस घड़ी में ?
मिली हैं शक्तियाँ मुझको बहुत कम
करूँगा पार कैसे पन्थ दुर्गम ?
निराशा का अँधेरा छा रहा है,
नज़र दीपक न कोई आ रहा है।

बुलाऊँ क्या तुम्हें ! तुम विश्व-व्यापी,
व्यथा भारी मुझे है आज व्यापी।
तुम्हीं हो नाथ विपदा में सहायक
तुम्हीं हो दीन-रक्षक, लोकनायक।
तुम्हें कोई नहीं आपत्ति भारी
तुम्हीं हो दोष-मोचन दुःख-हारी,
न लौकिक चाह मुझको कुछ रही है।
विनय हे प्राण-धन तुम से यही है—
"करो सामर्थ्यमय मन प्राण जीवन
करूँ जिससे विफल मैं मोह-बन्धन,
दया कर नाथ दुखिया का करो हित
गहन तम भेद, पथ कर दो प्रकाशित॥"

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**,
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – इन्द्रः ।

स नः शक्रश्चिदाशकत्
दानवां अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥

ऋक्–८.३२.१२ ॥

'सः' वह 'शक्र' शक्तिमान् 'नः चित्' हमें भी 'आशकत्' शक्तियुक्त करे ! क्योंकि वह 'दानवान' दान देनेवाला 'अन्तराभरः' अन्तस्तल को भरनेवाला है । 'इन्द्रः' वह परमेश्वर अपनी 'विश्वाभिः' सब 'ऊतिभिः' रक्षाओं से हमें समर्थ करे ।

जगत उद्यान के हे दिव्य माली !
सकल जग के विधाता शक्तिशाली !
खड़े हम दीन कब से हाथ खाली,
कृपा की दृष्टि क्यों तुमने हटा ली ?
कहाँ पर नाथ ! वह जाये भिखारी,
जिसे हो नित्य ही की भीख प्यारी ?
महादानी तुम्हारा नाम जग में,
प्रतीक्षा में खड़ा कब से सजग मैं ?
बटोही दूर से मैं आ रहा हूँ,
नहीं कुछ याद, मंजिल पर कहाँ हूँ ?
यहाँ से शीघ्र ही चलना नियत है,
अगम जग-सिन्धु निश्चित भी न पथ है ।
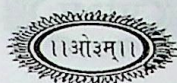
ऋषिः—**दध्यङ् आथर्वणः** ॥ देवता—**ईश्वरः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥
स्वरः—**ऋषभः** ॥

यतो यतः समीहसे, ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः॥

—यजु० ३६।२२

(**यतः यतः**) जहाँ-जहाँ से तुम (**सं ईहसे**) सम्यक् चेष्टा करते हो (**ततः**) वहाँ से (**नः**) हमें (**अभयं**) अभय (**कुरु**) कर दो। (**नः**) हमारी (**प्रजाभ्यः**) प्रजाओं के लिए (**शम्**) कल्याण (**कुरु**) कर दो और (**नः पशुभ्यः अभयम्**) हमारे पशुओं के लिए अभय कर दो।

अभयम्

क्या विस्तृत वसुधा-तल में,
या अतल जलधि के जल में,
क्या नील अनन्त गगन में,
या हृदयों में, त्रिभुवन में,
तुम जहाँ जहाँ से भगवन्!
कर रहे सूत्र-संचालन,
भयरहित हमें प्रभु! कर दो,
मंगल हो सबका, वर दो।
हों सुखी समस्त प्रजाएँ,
पशु भी निर्भय हो जाएँ,
उमड़ें बस अन्तस्तल में
विश्वास प्रेम पल-पल में॥

(पं० श्री वागीश्वर जी,
१८ पौष, १९९४)

देवता-ईश्वरः ।

यतो यतः समीहसे, ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः ।। यजुः- ३६. २२. ।।

हे प्रभु ! हम आपकी प्रजा हैं, आप से अभय की भिक्षा लेने आपके द्वार पर आये हैं ।

'यतः यतः संईहसे, नः अभयं कुरु' - जहाँ - जहाँ भी आपकी गति है - और वह सर्वत्र ही है, वहाँ - वहाँ से हमें भय रहित करो ।

विशाल पृथ्वी पर आपका राज्य है, अतल महासागर पर आपका ही शासन है। आपके संकेत पर ही सूर्योदय और सूर्यास्त होते हैं, आपकी ही आज्ञा से पवन चल रहा है, बादल बरसते हैं, रात्रि आती है, प्राणी जन्म लेते हैं, मृत्यु आती हैं। सर्वत्र आपका ही शासन है।

आपके शासन में आपके ही आत्मज होकर भी हम भयभीत हो जाते हैं। हमारा संशयशील मन आपकी दिव्य-शक्तियों को देखकर उनसे ही आत्मरक्षा के लिए भयातुर हो जाता है ।

हे प्रभु ! हमें आश्वासन दो कि ये शक्तियाँ हमारे लिये मंगलदायी बनकर आती हैं । आप इन देवशक्तियों से ही भावना के कल्याण कार्य चला रहे हैं । **' नः प्रजाभ्यः शं कुरु नः पशुभ्यः शं कुरु '** हमें जो कुछ प्रिय है, हमारी सन्तान, - हमारे पशु—सब इनकी छत्रछाया में आश्वस्त रहें, यही आपसे कामना है । आपसे अभय पाने के बाद हम सर्वथा निर्भय हो जायेंगे, हमारा मन सर्वथा शान्त और आनन्दमय हो जायेगा ।

अभय कामना

भय रहित हमें प्रभु कर दो।
श्रद्धा, विश्वास अमर दो।

अगणित इन सब देव-शक्तियों,
के अधिनायक तुम हो,
जीवन अमृत अक्षय,
जग के नियम-नियन्ता तुम हो।
करते तुम्हीं सूत्र-संचालन;
चाहे स्वर्ग, नरक हो।

नहीं माँगते हम प्रभु ! तुमसे
शाश्वत जीवन का वरदान।
निर्भय रहें; मुक्त बन्धन हों,
दो क्षण ही चाहे हों प्राण।

मंगल हो सब जीव-जगत का
अभय दान कर दो।
सभी तरह के उपद्रवों से
मुक्ति मिले यह वर दो।

बरस बरस रस वारी

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्त्रवन्तु नः ॥

वह (**आपः**) सब कामनाओं को प्राप्त करानेवाली (**देवीः**) दिव्य प्रभुशक्ति (**नः**) हम सबके लिये (**अभीष्टये**) अभीष्ट सिद्धि के लिए और (**पीतये**) परम रस का पान करने के लिए (**शम**) शान्तिदायक (**भवन्तु**) होवे और (**शंयोः**) सुख को (**अभिस्त्रवन्तु**) बरसाये।

बरस बरस रस वारी

मैया बरस बरस रस वारी !
बूँद-बूँद पर तेरी जाऊँ बार-बार बलिहारी ॥ ध्रुव ॥

नदी सरोवर सागर बरसे लागीं झरियाँ भारी।
मोरे अँगना क्यों ना बरसे मैं क्या बात बिगारी ॥

तू बरसे मैं जी भर न्हाऊँ दोनों भुजा पसारी।
नयन मूँद कर नाचूँ-गाऊँ अपना आप बिसारी ॥

—स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

ओ३म्
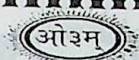
ऋषि:—**स्वयम्भु ब्रह्म** ॥ देवता—**परमात्मा** ॥ छन्द:—**निचृत् त्रिष्टुप्** ॥
स्वर:—**धैवत:** ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वा: प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभिसंविवेश॥

—यजु० ३२।११

(भूतानि परीत्य) अनेक योनियों में घूमकर **(लोकान् परीत्य)** नाना लोकों में घूमकर **(सर्वा: प्रदिश:दिशश्च परीत्य)** सब दिशा-विदिशाओं में भी घूमकर **(ऋतस्य प्रथमजां उपस्थाय)** सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना शक्ति का आश्रय लेकर **(आत्मना आत्मानं अभिसंविवेश)** आत्मा द्वारा परमात्मा को सम्मुखतया प्राप्त होता है।

उपस्थाय

(प्रभु का आश्रय)

मैं योनि-योनि में घूमा, मैं लोक-लोक में जाकर-
आया न कहीं, पर पाया अपना वह प्यारा सुन्दर।
अब याद नहीं है मुझको अपना ही कूल-किनारा,
किस महासिन्धु में जाकर लय होगी जीवन-धारा?
है मुझे अपरिचित-सा ही, इस जग का कलरव सारा,
जैसे हो और कहीं पर, मेरा वह नन्दन प्यारा।
मानो मैं पथिक अकेला, भूला पथ-रेखा घर की
बिछुड़ी मैं बूँद अमरता के मिलनोन्मुख सागर की।
मैं नई तारिका नभ से आ चमकी भूली-भटकी,
मानो मैं वन की कलिका, उपवन में आकर चटकी!
ये सभी दिशाएँ देखीं, देखा है कोना-कोना,
थी कहाँ हास्य की रेखा? फैला था सूना रोना।
अब आज सत्य की सहसा यह दीखी प्रथम किरण-सी,
यह बूँद बन चली सागर, थी क्षणभर पहले कण-सी।
इस एक रश्मि का आश्रय पाकर मैं पूर्ण हुआ हूँ,
अपने ही अन्दर 'अपने' सम्मुख मैं आज हुआ हूँ॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**, मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता — परमात्मा।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्,
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजाममृतस्य,
आत्मनात्मानमभि संविवेश॥

यजु. ३२.११॥

जन्म-जन्मान्तरों के परिभ्रमण के बाद अन्त में अपनी ही अन्तर्मुखी श्रद्धा के प्रकाश में आत्मा को परमात्मा की समीपता मिलती है, यह अनुभव करके ऋषि संदेश देता है।

हृदयस्थ आत्मा विश्वात्मा से वियुक्त होकर न जाने कब और कहाँ भटक गया था। वियोग की उन घड़ियों में उसने **'दिशा प्रदिशो'** न जाने किन लोकों और दिशाओं में जाकर अपने वियुक्त साथी की खोज की।

खोज में उसे न जाने कितने युग बीत गये। किन्तु अज्ञानतावश उसे कहीं अपने परमदेव का परिचय न मिला।

तब उसने **'अमृतस्य प्रथमजां उपस्थाय'** केवल अपनी श्रद्धा की शरण लेकर, अपने अन्तःकरण में स्थित शाश्वत सत्य का आधार लेकर खोज की, तब उसके अन्तःचक्षु स्वयं खुल गये। एक दिव्याभा प्रकट हुई। उसी दिव्य आभा के प्रकाश में वह **'आत्मना आत्मानं अभिसंविवेश'** अपने वियुक्त विश्वात्मा के सम्मुख आ गया।

आत्म-दर्शन
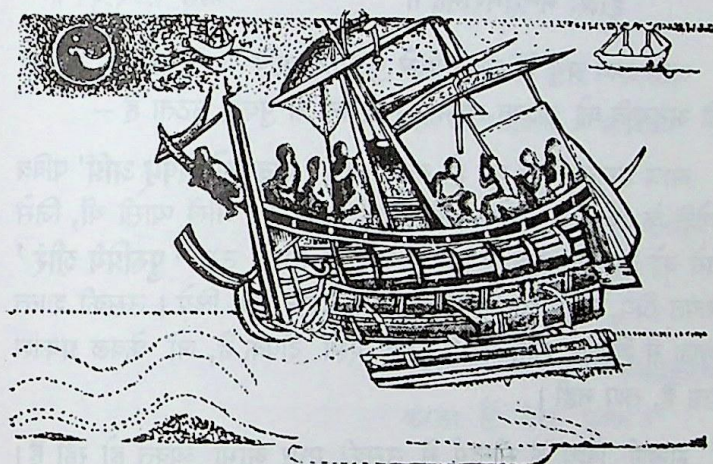
मैं योनि-योनि में घूमा, मैं लोक-लोक भरमाया।
पर वियोग वेला का, अन्त नहीं हो पाया।

अब याद नहीं है मुझको, अपना ही कूल-किनारा॥
किस महासिंधु में जाकर, लय होगी जीवन धारा।

अब आज सत्य की सहसा, देखी प्रथम किरण-सी।
यह बूँद बनी जो सागर, क्षण-भर पहले थी कण-सी।

इस एक रश्मि का मैं, आश्रय पाकर पूर्ण हुआ हूँ।
अपने ही अन्दर अपने के सम्मुख मैं आज हुआ हूँ।

देवता – अग्निः ।

अग्नि मन्द्रं पुरु प्रियं, शीरं पावकशोचिषम् ।
हृद्भिः मन्द्रेभिरीमहे ॥ ऋक् ५.४३.३१ ॥

आनन्दमय प्रभु के साहचर्य से पुलकित ऋषि उसी सात्विक आनन्द की अनुभूति को शाश्वत रखने की कामना से पुकार उठता है –

आज हमारा स्वप्न पूरा हो गया। आज **'पावकशोचिषम् अग्निं'** पवित्र ज्योति के दर्शन कर लिये, जिसे देखने को हमारी आँखें प्यासी थीं, जिसे पाने को हम लालायित थे। जन्म-जन्म से हमने उस **'पुरुप्रियं शीरं'** अत्यंत प्रिय, मधुर तथा दिंव्य ज्योति के दर्शन कर लिये। उसकी शान्त शिखा में विचित्र शीतलता है। वह ऐसा दीपक है, जो केवल प्रकाश देता है, ताप नहीं।

सम्पूर्ण विश्व के सौन्दर्य में उसकी मधुर आभा व्यक्त हो रही है। हमारे हृदय ने आज उसका रहस्यमय स्पर्श अनुभव किया है।

अब हम उस प्रसुप्त ज्योति से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होंगे। उसकी एक झलक में ही हमारी जन्म-जन्मान्तरों की थकान मिट गयी है। मन में आनन्द का मधुर नशा छा गया है। अब हम **'मन्द्रेभिः हृद्भिः ईमहे'** सदा उस दिव्य आनन्द की अनुभूति के साथ परम पुनीत प्रियतम की अन्तःकरण में विराजित प्रतिभा की ही एकनिष्ठ आराधना करते रहेंगे।

शीतल शिखा

मेरा मधुर मदिर मन निशिदिन,
करता है तेरा पूजन।

खोया जैसे कोई सपना,
मन की गहराई में अपना।

ऐसे प्रिय की छवि को देखे,
परछाई में अपना मन।

मेरा मधुर मदिर मन निशिदिन,
करता है तेरा पूजन।

उसकी दीप शिखा शीतल है।
उसकी ज्वाला शान्त विमल है,
उसके दिव्य रूप का दर्शन,
ही जीवन का आराधन

मेरा मधुर मदिर मन निशिदिन,
करता है तेरा पूजन।

ओ३म्
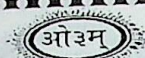
ऋषि:-विरूप आङ्गिरसः ॥ देवता-अग्निः ॥ छन्दः-गायत्री ॥ स्वरः-षड्जः ॥

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं, शीरं पावकशोचिषम्।

हृद्भिः मन्द्रेभिरीमहे ॥ —ऋ० ८।४३।३१

(पुरुप्रियं) बहुत प्यारे और **(पावक शोचिषम्)** पवित्र ज्योतिवाले **(शीरं)** किन्तु सोए पड़े हुए **(मन्द्रं)** मस्ती देनेवाले, आनन्दरूप **(अग्निं)** परमात्मा को हम **(मन्द्रेभिः हृद्भिः)** हर्षोल्लसित हृदयों से **(ईमहे)** चाह रहे हैं—प्राप्त करना चाह रहे हैं।

प्रेम-योगी का स्वप्न

हुए हर्ष-गद्गद विकल प्राण क्योंकर,
न जाने हृदय आज कैसा हुआ है?
लहर-सी उठी है, हुए रोम कम्पित,
मुझे प्यार से क्या किसी ने छुआ है?

न कोई निकट है यहाँ, किन्तु पल में,
मधुर प्रेम की छा गई है खुमारी।
उठी याद क्यों आज 'उनकी' अचानक,
न छवि आजतक तो हृदय ने निहारी॥

किया किन्तु छल आज आकर उन्हीं ने,
जिन्हें याद कर मुग्ध हम हो रहे हैं।
हमारे निकट आज मानस-भवन में,
वही प्रेम-सुन्दर पड़े सो रहे हैं॥

हुआ स्वप्न पूरा, वही पुण्य छवि है,
इन्हें किन्तु यह हाथ कैसे लगाऊँ
मिले कल्पना के सुघर आज प्रियतम,
इन्हें कौन-सी युक्ति से मैं जगाऊँ?

चलो प्रेम-सरिता नहा कर विमल हों,
जगा लें हृदय-दीप तल्लीन होकर।
बनें प्रेम-योगी, पगें भक्ति-रस में,
जगाने चलें फिर उन्हें दीन होकर॥

श्री निरञ्जनदेव 'प्रियहंस',
मार्गशीर्ष, १९९४

देवता — अग्निः ।

स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं, स वक्त्वान्यृतुथा वदाति ।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन् ॥

ऋक्० ६.९.३ ॥

परम स्रष्टा वैश्वानर की द्वन्द्वात्मक रहस्यमयी सृजन शक्तियों का साक्षात्कार करते हुए वैदिक ऋषि उसका वर्णन करता है —

स इत् तन्तुं, स ओतुं विजानाति—वह विधाता विचित्र जुलाहा है। जगत् का ताना भी वही तनता है और बाना भी वही बुनता है।

स ऋतुथा वक्त्वानि वदति—इस ज्ञान को वह रहस्यमय भी नहीं रखना चाहता। जिसे वह पात्र समझता है, उसे इस ज्ञान का अंश देता है।

उसने सृष्टि के इस ताने-बाने को जोड़कर अपने भाग्य पर नहीं छोड़ दिया। उसने सबमें अपनी अमरता का अंश दिया है। **स परा अन्येन पश्यन् ईं चिकेतत्**—वह त्रिभुवन में विचरण करता हुआ, अपने दिव्य चक्षुओं से देखता हुआ सम्पूर्ण जगत् में ज्ञान और चैतन्य दे रहा है।

तू अद्भुत है तन्तुवाय, सब तेरा ही विस्तार।

ताना भी तनता है तू ही, बाना भी बुनता है तू ही,
ताना-बाना दोनों का है, तुझ पर ही आधार।

मौन सदा ही तू रहता है, बिन बोले सब कुछ कहता है,
एक चरण धरती पर तेरा, एक गगन के पार,
तू अद्भुत है तन्तुवाय, सब तेरा बिस्तार।
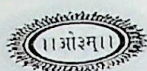
ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयु:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

उद्यानं ते पुरुष! नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथम्, अथ जिर्विर्विदथमावदासि॥

—अथर्व० ८।१।६

(पुरुष) हे जीव! **(ते उद्यानं)** तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; **(न अवयानं)** नीचे पतन कभी नहीं। **(ते जीवातुं)** तेरे जीवन को **(दक्षतातिं)** बल से युक्त **(कृणोमि)** करता हूँ। **(इमं)** इस विद्यमान **(अमृतं)** अमृत युक्त **(सुखं)** सुखकारी **(रथं)** रथ पर **(हि)** निश्चय से **(आ रोह)** तू चढ़ जा। **(अथ)** फिर **(जिर्वि:)** जीर्ण होकर, बुढ़ापे में भी **(विदथं)** ज्ञान को **(आ वदासि)** प्रचार करता रह।

मन

किस लिए नैराश्य छाया?

किस लिए कुमला रहा यह फूल-सा चेहरा तुम्हारा,
आँसुओं से तर सरित के कूल-सा चेहरा तुम्हारा,
चीरता दिल सूखकर क्यों शूल-सा चेहरा तुम्हारा,
और पहिचाना न जाता भूल-सा चेहरा तुम्हारा।

हो गई कुछ और काया।
किस लिए नैराश्य छाया?
किस लिए................?

मूर्त्ति मिट्टी की नहीं, चिर स्फूर्ति की तस्वीर हो तुम!
जो जगे श्रम से वही सोई हुई तकदीर हो तुम।
जो हरें परतन्त्रता स्वाधीन्य के वे तीर हो तुम,
दूसरे भगवान् बनने के लिए तदबीर हो तुम।

है तुम्हीं में जग समाया।

सीख कर आए तुम्हीं थे ख़ाक में भी गुल खिलाना,
देह-रथ-आरूढ़ होकर उच्च इन्द्रासन हिलाना,
विश्वभर में क्रान्ति करना और मुर्दों को जिलाना,
किन्तु अपने आप ही को और मिट्टी में मिलाना—

यह तुम्हें किसने सिखाया?

यश तुम्हारा था मगर तुम आज यश को धो रहे हो।
पथ तुम्हारा था मगर तुम आज पथ में खो रहे हो।
जग तुम्हारा था मगर तुम आज जग को रो रहे हो,
रथ तुम्हारा था मगर तुम आज रथ के हो रहे हो।
और कुछ का कुछ बनाया।

मद चला था स्वाभिमानासव छलकता जाम देने,
मोह-मत्सर प्रेम देने लोभ धन निष्काम देने,
और क्रोध स्वतन्त्रताहित युद्ध का पैग़ाम देने,
काम आया था तुम्हें भगवान् का उपनाम देने,
यह नहीं भ्रमजाल माया।

देव-रथ के अश्व हैं, कुछ प्रकृति के उद्गार हैं ये,
सूक्ष्म स्थूल रणस्थलों में ढाल हैं तलवार हैं ये,
मत करो वैराग्य इनसे देव के उपहार हैं ये,
यदि पलट दो चाल इनकी आन में उस पार हैं ये,
दृष्टि-पथ में जो न आया।

जीर्णता में भी सदैव सजीवता रखते सँभाले,
जो सजग रखते हृदय को हैं वही वे घाव-छाले,
और उज्ज्वल जो करें मुख, हैं वही ये बाल काले,
यदि इन्हें कोई सँभाले अमृत हाथों-हाथ पाले।
क्यों गरल मुँह से लगाया?
.....किस लिए............?

यह तुम्हारी शक्तियाँ हैं, यह नहीं मजबूरियाँ हैं,
यह कली-सी कण्टकों में कर रही अठखेलियाँ हैं,
यह विरोधाभास की सुन्दर अमर कुछ पङ्क्तियाँ हैं,
और सीधी राह की कुछ कम चली पगदण्डियाँ हैं।
क्यों इन्हें तुमने भुलाया?

क्यों तुम्हें चतुरङ्गिणी इनकी न सेनाएँ लुभाएँ,
जीत सकते हो इन्हीं से एक क्या सारी दिशाएँ।
दो इन्हें नीचा न होने, स्वर्ग की हैं ये ध्वजाएँ,
कह इन्हें दो ये तुम्हारे मान का बन साज छाएँ-
पा तुम्हारी छत्र-छाया।

देवता – आयुः ।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आहि रोहेममृतं सुखं रथं, अथजिर्विं वेदथमावदासि ॥ अथर्व ८. १. ६

मानव की उत्थान प्रिय प्रवृत्ति पर पूर्ण आस्था रखते हुए वेद का कवि पुरुषमात्र को जीवन की यात्रा के लिए आशा का अमर संदेश देता है —

हे पुरुष, **'ते उद्यानं न अवयानं'** यह मानव जीवन स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है, उत्कर्ष मार्ग पर चलनेवाला है, अधःपतन इसकी प्रकृति में ही नहीं है ।

पुरुष की यह उत्कर्ष प्रिय प्रकृति अकारण नहीं है । **'जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि'** इस अदम्य जीवट के लिए विधाता ने तुझे असाधारण दक्षता दी है, मेधा से सम्पन्न किया है । उत्कर्ष के इस अभियान में यदि कभी मिथ्या अहंकार या थकानवश क्लांति प्रतीत हो, तो **'आरोह इमं अमृतं सुखं रथम्'** प्रभु के अमृत-आनंदमय रथ पर आरूढ़ होकर देवयात्रा पूरी करो । फल की चिंता छोड़कर विधि निर्दिष्ट मार्ग पर चलते चलो । कभी देह जीर्ण-शीर्ण हो जाये, तो **'जिर्विः वदथमावदासि'** ज्ञान की प्रखरता के कारण तुम ज्ञानदान देते हुए विकास के अन्तिम सोपान तक पहुँच सकोगे । दैहिक शिथिलता आने पर भी केवल ज्ञानबल और आत्मबल से विकास के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाओगे ।

पुरुषार्थ
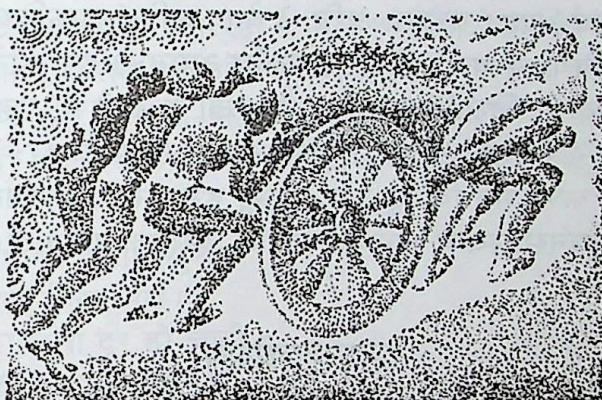
हे पुरुष, पुरुषार्थ कर, यह धर्म है तेरा अमर।
चढ़ना तुझे है शिखर पर, हे पुरुष, पुरुषार्थ कर।
राह में रुकना नहीं तू, पाप से झुकना नहीं तू।
है दिया कौशल तुझे, विधि ने दिया यह दिव्य वर।
पुरुषार्थ कर, पुरुषार्थ कर।
भव्य तेरा देव पथ है, साथ तेरे दिव्य रथ है।
अमरता के मार्ग पर, रहना सदा ही तू प्रखर।
तू है अमर, अक्षय अजर,
पुरुषार्थ कर, पुरुषार्थ कर।
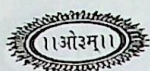
ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अयं कविरकविषु प्रचेता, मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः, सदा त्वे सुमनसः स्याम॥

—ऋ० ७।४।४

(अयं) यह **(प्रचेताः अग्निः)** चेतन अग्नि **(अकविषु कविः)** इन अकवियों में कवि होकर **(मर्त्येषु अमृतः)** इन मरनेवालों में अमृत होकर **(निधायि)** निहित है, रखा हुआ है। **(सहस्वः)** हे बल-तेज-शक्तिवाले! **(सः)** वह तू **(नः अत्र मा जुहुरः)** हमें इस संसार में कभी मत विनष्ट कर, किन्तु हम **(सदा)** सर्वदा **(त्वे)** तुझमें **(सुमनसः स्याम)** अच्छे मनवाले, प्रसन्नता पानेवाले **(स्याम)** बने रहें।

एक मनोरथ

वही अचेतन इस शरीर में, एक चेतनामय है।
वही विनश्वर विश्व-जगत में अमृत-रूप अक्षय है॥
वही काव्यमय है, सुन्दर है, सर्वशक्ति-संपन्न महान्।
प्रेमभाव से सीस नवाकर करते सब उस का ही ध्यान॥
रूठ जाय दुनिया; तुम केवल बने रहो मेरे स्वामी,
मैं तुम में, तुम मुझ में लय हो रमे रहो अन्तर्यामी॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
मार्गशीर्ष, १९९४)

।।ओ३म्।।
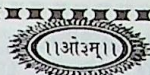
ऋषिः-कुत्स आङ्गिरसः ॥ देवता-उषा ॥ छन्दः-भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः-पञ्चमः ॥

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥

—ऋक्० १।११३।१६

हे मनुष्यो! (**उदीर्ध्वं**) उठो, (**नः**) हमारे लिए (**जीवः**) जीवन (**असुः**) प्राण (**आगात्**) आ गया है, उदय हो गया है। (**तमः**) अन्धकार (**अप प्रागात्**) हट गया है और [यह देखो] (**ज्योतिः**) उषा की ज्योति (**आ एति**) आ रही है। इस ज्योति ने (**सूर्याय पन्थां**) सूर्य के मार्ग को (**यातवे**) चलने, पहुँचने के लिए (**आरैक्**) खोल दिया है, (**यत्र**) जहाँ [जीवन-शक्तियाँ] (**आयुः**) जीवन को (**प्रतिरन्ते**) बढ़ाती ही हैं [उस अवस्था में हम] (**आ अगन्म**) पहुँच गए हैं।

अरुणोदय

उठो देवगण! जागो, सुन्दर
यह प्रभात-वेला आई।
निशा-कालिमा दूर हो चली,
उषा-अरुणिमा नभ छाई॥

नव जीवन की आभा फैली,
हुआ प्रकृति का नव शृङ्गार
दिव्य ज्योति का उदय हुआ, फिर
चमक उठा सारा संसार॥

अन्तर्तम में परम ज्योति वह
जाग उठेगी अब निश्चय ही,
उसके दिव्य प्राण को पाकर
देव बनेंगे मृत्युञ्जय ही॥

प्राची में अरुणोदय होगा,
पल में यह जग जगमग होगा
पंकज-दल में अवनी-तल में
विकसित नूतन जीवन होगा॥

पहुँचें हम उस दिव्य मार्ग में,
जहाँ न फिर जीवन का क्षय है।
आगे ही आगे बढ़ना है,
गति है, जय है और अभय है॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस'**,
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – पवमानः सोमः ।

परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा, सुषाव सोममद्रिभिः ॥

सामवेद पूर्वार्चिक ६,३,२ ।

द्युलोक में व्याप्त पवमान सोम में अभिषिक्त होने की कामना करते हुए ऋषि विनति करता है:—

हे प्रभु, हम **'सोमः यः उत्तमं हविः'** अनन्त सौन्दर्यशाली सूक्ष्म शरीर में व्याप्त आनन्दप्रद अमृत सोम की कामना करते हैं ।

आपके ही वरद आत्मज होने से हम भी अमृतपुत्र हैं । इसलिए हे सोम के अधीश्वर, अपने सरस प्रवाह से **'सुतं परिषिञ्चत'** अपने अमृत-पुत्रों का अभिषेक होने दो। आपके अनन्त सोम सागर अपनी सोम-सुधा से मानव का अभिषेक करें और आकाश के सजल मेघ अपने कलश भरकर मानव की पिपासा शान्त करें ।

हम **'नर्यः अप्सु अन्तः दधन्वान्'** मानव अपने पुरुषार्थ के बल पर अथाह समुद्र में डुबकी लगाकर सोम की उपलब्धि करें और **'अद्रिभिः सोमम् आसुषाव'** नभ-विहारी मेघों के संग उड़कर नभोमण्डल के सोम का पान करें ।

हे विश्वपति अब आप स्वयं अपने यज्ञावशेष सोम से हमारा अभिषेक करें, तभी हमारा पुरुषार्थ सफल होगा ।

राजतिलक

मानव बना आज युवराज।
राजतिलक करने को तेरा,
सूर्य-चन्द्र लाये हैं ताज।

नभ में मेघ सजल घिर आये,
वसुन्धरा पर सागर।
करने को अभिषेक तुम्हारा,
लाये अमृत घट भरकर।

मणि-मुक्ता से जटित गगन में
तारकगण का ताज।
प्रभु का पावन स्नेह जलाशय
कर ले उसमें स्नान अबाध।

वरद पुत्र ईश्वर का तू है
कर ले अमित सुधा का पान
अमृतमय त्रैलोक्य राज्य का
प्रभु देते हैं दान।

अपने हाथों तिलक लगाया
प्रभु ने तेरे आज।
मानव बना आज युवराज।

॥ओ३म्॥
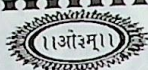
ऋषिः—**भरद्वाजः (बार्हस्पत्यः)**॥ देवता—**अग्निः (वैश्वानरः)**॥
छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं, स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा, अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन्॥

—ऋ० ६।९।३

(सः) वह वैश्वानर अग्नि **(इत्)** ही **(तन्तुं)** ताना तनना और **(सः)** वही **(ओतुं)** बाना करना **(विजानाति)** जानता है, **(सः)** वह **(ऋतुथा)** समय समय पर **(वक्त्वानि)** वक्तव्य ज्ञानों को भी **(वदाति)** बोलता है, प्रकाशित करता है। **(यः)** जो [वैश्वानर अग्नि] **(अमृतस्य गोपाः)** अमरत्व का रक्षक हो **(अवः)** इधर नीचे **(चरन्)** चलता हुआ और **(परः)** उधर ऊपर **(अन्येन)** अपने दूसरे रूप से **(पश्यन्)** देखता हुआ **(ईं)** इस संसार को **(चिकेतत्)** जान रहा है, इसमें ज्ञान चैतन्य दे रहा है।

वैश्वानर

इस जगती के ओर-छोर में, समा रहा प्रिय हरि मनचाहा॥

ताना तनना मैं क्या जानूँ?
बाना भरना मैं क्या जानूँ?
टूट जाय जो सूत बीच में
उसे जोड़ना मैं क्या जानूँ?
तनने भरने और जोड़ में—
मेरा तो है वही जुलाहा॥ इस...

प्रभु मेरा ज्ञानी वैश्वानर,
कह देता है ठीक समय पर
जो भी कुछ मुझको करना है
आकर मेरे और निकटतर
इस दुनिया के विकल शोर में-
किन्तु न मैंने उसे सुना, हा!...

यहाँ व्यष्टियाँ सभी विनश्वर,
वह समष्टि एकज विश्वम्भर,
मर्त्य व्यक्ति की जोड़-तोड़ में
भी रहता वह तो सदा अमर
अमृत सँभाले ज्ञान-क्रोड में-
उसने रक्षक धर्म निबाहा॥ इस...

नीचे-नीचे वह चलता है,
जंगम विश्व यहाँ पलता है,
ऊपर वह द्युलोक-सी आँखें-
जिनमें दिव्य स्नेह जलता है।
उसकी अनुपम एक कोर में
मैं कर डालूँ सब कुछ स्वाहा॥ इस...

(वेदव्रत, ४ पौष, १९९४)
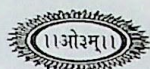
ऋषिः—**भारद्वाजादयः सप्त ऋषयः** (भारद्वाज आदि सात ऋषि)॥
देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

परीतो षिञ्चता सुतं, सोमो य उत्तमं हविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा, सुषाव सोमममद्रिभिः॥

—सामवेद पूर्वार्चिक ६।३।२

(**सोमः यः उत्तमं हविः**) मेरी जान जो उत्तम हवि है, (**इतः**) अब (**सुतम्**) उस प्रकट हुये ब्रह्म-सुत—अमृतपुत्र को (**परि-षिञ्चत**) चारों ओर से सींचो। (**यः**) जिस (**नर्यः**) मानव-सन्तान ने (**अप्सु-अन्तः**) तरङ्गों के बीच में (**दधन्वान्**) धारणा की डुबकी लगाई, (**अद्रिभिः सोमम् आ-सुषाव**) उसने बादलों से सोम-रस खींच लिया।

युवराज

मेरी जान! बनो युवराज॥
देह-पुरी के सकल देव-गण,
खड़े सजाए साज।

कर अभिषेक अनूप रसों से,
पहनो अनुपम ताज।

सिंहासन बलिदान-वेदि है,
चढ़ो राज्य के काज।

हो अभिषिक्त हव्य बन जाना,
रखना कुल की लाज।
मेरी जान! बनो युवराज॥

(**चमूपति**,
फाल्गुन, १९९१)

देवता – द्यावा पृथिव्यौ ।

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः में प्रदिशो भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ।।

अथर्व – १९.१४.१. ।।

संघर्षमय जीवन से विश्रान्ति पाकर, विश्व की दैवी शक्तियों से अभय याचना करते हुए पूर्णतः समर्पित वैदिक ऋषि पुकारता है —

'इदम उत् श्रेयः अवसानम् आगाम्' अब तो यही भला लगता है कि मैं अब जीवन के सब संघर्षों का अन्त कर दूँ । मेरी कामनायें शान्त हो जायें ।

इस जीवन-यज्ञ में मैंने अपने दायित्व को निभाने के लिए सभी प्रकार के संघर्ष किये हैं । किन्तु अब विराम की अन्तःप्रेरणा आ गयी है ।

'शिवे मे द्यावा पृथिवी अभूताम्' अब मेरा कल्याण भगवान की समस्त अन्तरिक्ष व्यापिनी शक्तियाँ स्वयं करें । मैंने कभी किसी से द्वेष नहीं किया, सबसे मित्रवत् निभाया है । आकाश और पृथ्वी के सब प्राणियों से मैंने प्रेम किया । सभी के प्रति आदर भाव रखा ।

'असपत्नाः मे प्रदिशो भवन्तु' अब असीम दृष्टि के दिशा-दिशान्तर मेरा मंगल मनायें ।

'न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु' मुझे सभी से अभय पाना है । अपने जीवन के शेष दिनों में मैं पूर्ण शान्ति और मंगल चाहता हूँ । न मैं किसी से द्वेष करता हूँ और न किसी के द्वेष से भयभीत होता हूँ ।

वरदान

प्रभु मेरे दे दो यह वरदान, सबका हो कल्याण।
अब तो केवल यही श्रेय है, सबका मंगल सतत प्रेय है,
जीवन की सन्ध्या बेला में, वैरभाव का हो अवसान।
प्रभु मेरे दे दो यह वरदान।

पृथ्वी-नभ के सभी देवता, पूरब-पश्चिम दिशा-दिशा,
सदा दयालु रहें मानव पर, करें सदा कल्याण।
प्रभु मेरे दे दो यह वरदान।

मन की तृष्णा मिट जाये, बैर-विरोध भाव हट जाये,
सभी देवताओं से हर पल, मिले अभय वरदान।
प्रभु मेरे दे दो यह वरदान।
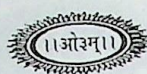
ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥

—अथर्व० १९।१४।१

(इदं उत् श्रेयः) निश्चय से यह ही कल्याणकर है कि **(अवसानं आगां)** मैं अब समाप्ति पर आ जाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ, अतः हे शत्रु! **(त्वां)** तेरे साथ **(न वै द्विष्पः)** मैं तो द्वेष करना छोड़े देता हूँ। **(द्यावा-पृथिवी)** द्यौः और पृथिवी भी **(मे)** मेरे लिए **(शिवे)** अब कल्याणकारी हो जायँ, **(प्रदिशः मे असपत्नाः भवन्तु)** सभी दिशाएँ मेरे लिए शत्रुरहित हो जाएँ। **(नः अभयं अस्तु)** मेरे लिए अब अभय ही अभय हो जाय।

मीठी हार

लो तुम जीत गए, मैं हारा॥

(१)

बहुत हो गया, बहुत हो गया।
इस अति में क्या नहीं खो गया।
लो, मैं स्वयं किये देता हूँ।
सारे झगड़े का निपटारा॥

(२)

जिस पथ को समझा था अब तक
रण-कौशल गौरव का द्योतक।
एक भयानक दलदल निकला
वही मार्ग सारे का सारा॥

(३)

कर त्रिशूल से महाप्रलय भी,
काम न जो कर सकी विजय भी।
काम करेगी वही शान्त रस-
वाली आज हार की धारा॥

(४)

मुझको सृष्टि न रचनी केवल,
मुझे किन्तु रचनी है उज्ज्वल-
सृष्टि शान्ति ही की, इससे मैं
आज बनूँगा विधि से न्यारा॥

(५)

जीत हार के भय में मरती।
किन्तु हार स्वच्छन्द विचरती।
हार हार करके जीतूँगा,
जीत जीत करके अब हारा॥

(६)

कहीं वीर से अधिक शान्त रस-
में वीरत्व और है साहस।
जो कर पाई प्रेम-अहिंसा,
वह कर पाई नहीं दुधारा॥

(७)

माना मार्ग हार का बीहड़,
इसमें तुम तो अलग किन्तु लड़-
लड़ मर जाएगा मुझसे ही
मेरा स्वाभिमान-मद प्यारा॥

(८)

इतना क्या? दुनिया में उन्नति,
करने वाली हिंसक पद्धति।
जिसको सब विधि-कृत कहते हैं,
उससे करना मुझे किनारा॥

(९)

हिंसा पर है सृष्टि न आश्रित,
सृष्टि प्रेम द्वारा संचालित
अब तुम क्या? हिंसा-देवी का
करना मुझको वारा न्यारा॥

(१०)

ओ, द्वेष-प्रवर्त्तक स्वाभिमान!
है निज ममत्व का मुझे ज्ञान।
अब नहीं फिरूँगा पीछे पीछे
नित मैं तेरे मारा मारा॥

(११)

अब जागा मेरा अहंकार,
वास्तविक, असीमित निर्विकार।
अब तुम क्या? अणु-अणु प्रिय मुझको
मैं भी हूँ अणु-अणु को प्यारा॥

(१२)

जग का विकास, जग का सुधार
करने का सारा कार्यभार
मानव को सौंपा ईश्वर ने
कह रहा भाग्य का यह तारा॥

(१३)

जब काम ले लिया है सिर पर,
तब मरने-जीने का क्या डर
मैं देव नहीं जो टालूँगा-
है जग-विकास मुझको प्यारा॥

(१४)

इन छोटी-छोटी बातों में,
अधर्मी तुम्हारी घातों में,
फिर पड़कर क्या मैं खो दूँगा-
निज ऊर्ध्व दिशा का ध्रुवतारा॥

(१५)

है न्याय शक्ति का देव, वरुण।
बन कभी क्रूर, बन कभी वरुण।
वह न्याय-दण्ड के योग्य कहाँ।
अभिमानी मानव बेचारा॥

(१६)

मानव का मानव-पन स्वधर्म,
मैं नहीं तजूँगा जाति-कर्म।
जग लाख संकुचित कहे मुझे
मैं जाति-बन्धनों पर वारा॥

(१७)

नहीं जवाब ईंट का पत्थर,
बदला लेना ही भव-सागर।
इस पशुता की वैतरणी में,
इसी हार का मुझे सहारा॥

(१८)

इसी द्वेष के चक्कर में पड़,
जूझ मरे हम दोनों लड़ लड़।
बिगड़ा कुछ भी नहीं द्वेष का
बिगड़ा मेरा और तुम्हारा॥

(१९)

सभ्यता-हेतु साम्राज्य-वाद,
या शान्ति-हेतु हिंसा-निनाद
इन बड़े-बड़े सिद्धान्तों का—
इसी द्वेष ने जाल पसारा॥

(२०)

बन आत्म-अभ्युदय का साधन,
या प्रश्न आत्म-रक्षा का बन,
शत रूप बदल कर इसी द्वेष ने
प्रतिहिंसा का भाव उभारा॥

(२१)

तुम से मेरा द्वेष मिटा सब,
मुझे द्वेष से द्वेष हुआ अब।
है कल्याण इसी में मेरा,
इसमें ही कल्याण तुम्हारा॥

(२२)

जिस विरोध को अपना समझे,
उस में मैं भी तुम भी उलझे।
अगर इसे हम नहीं मिटाते,
यह कर देगा अन्त हमारा॥

(२३)

अब तो सकल विश्व है मेरा,
प्रेम शान्ति का रैन-बसेरा।
सभी दिशाएँ मित्र हो गईं,
आज हार ने मुझे सँवारा॥

(श्री जगन्नाथप्रसाद,
२२ पौष, १९९४)
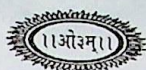
ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**ऋतुः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसन्त इन्नु रन्त्यः, ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदोहेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

—साम पूर्वार्चिक ६।३।१३।२

(वसन्तः) वसन्त **(इत् नु)** निश्चय से ही **(रन्त्यः)** रमणीय है और **(ग्रीष्मः)** गर्मी की ऋतु भी **(इत् नु)** निश्चय से ही **(रन्त्यः)** रमणीय है। **(वर्षाणि)** वर्षाएँ **(अनु शरदः)** उसके पीछे आनेवाले शरद् के दिन **(हेमन्तः)** और हेमन्त ऋतु तथा **(शिशिरः)** पतझड़ की ऋतु भी **(इत् नु)** निश्चय से **(रन्त्यः)** रमणीय है।

सुन्दर विश्व

वसन्त रमणीय सखे!
ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे!
शरद् रमणीय है।
हिमान्त रमणीय सखे!
शिशिर रमणीय है।
मन स्वयं मङ्गल बने,
विश्व रमणीय है॥

(वेदव्रत,
८ वैशाख, १९९४)

देवता—ऋतुः।

वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाऽननु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः॥

साम पूर्वार्चिक ६,३.१३.२.॥

अमर यौवना प्रकृति के सब रूपों में, वर्ष की सब ऋतुओं में, अपार रमणीयता देखकर ऋषि का हृदय विश्वपुरुष की वन्दना करता है—

'वसन्त इन्नु रन्त्यः' वसन्त ऋतु की रमणीयता कितनी अपार है। यही वे दिन हैं, जब फूलों की सुगन्ध से मदमाती हवा एक छोर से दूसरे छोर तक बहती है। उसके स्पर्श से देहधारी जीव ही नहीं, वनस्पति भी पुलकित हो जाती हैं।

'ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः' ग्रीष्मकाल की रमणीयता भी अद्वितीय है। सूर्य की उष्मा से पिघलकर हिमालय के शिखर से अनंत जलधारा बहती है। उसके स्पर्श से पृथ्वी का अंग-अंग रोमांचित हो जाता है।

'वर्षाननुशरदः' फिर वर्षा ऋतु आती है। नीला आकाश काले बादलों से घिर जाता है। मेघ में छिपी विद्युत् चमकती है। जल की सहस्र धाराएँ वृक्ष-वनस्पति को नहला देती हैं। वर्षा के बाद शिशिर, शरद और हेमन्त के शीत काल आते हैं। सभी की अपनी शोभा है, सुषमा है। इन समान रूपों में रमण करनेवाले सौन्दर्य सिन्धु भगवान हम आपकी सब रूपों में वन्दना करते हैं।

ग्रीष्म, शरद, आदि सभी तेरे रूप हैं और सभी रमणीय हैं।

रम्य विलास

हे आनन्द रूप जगदीश्वर,
जगत् तुम्हारा रम्य विलास।
कितना सुन्दर कितना मोहक
कितना सुखप्रद है मधुमास।
प्रखर ग्रीष्म ऋतु की ऊष्मा भी-
मन में भर देती उल्लास।

वर्षा की रिमझिम रुनझुन में
नर्तन करता हृदय मयूर।
शुभ्र शरद हेमन्त हर्षप्रद
शिशिर रम्यता से भरपूर।

जहाँ-जहाँ है रमण तुम्हारा
वहीं प्राण का नवल विकास।
विश्वपुरुष ! सब व्याप्त आप में
सब में प्रभो आपका वास।

देव तुम्हारी ही सुषमा से
प्राणित जग यह सुन्दर है।
सूर्य-चन्द-नक्षत्र-सुशोभित
विश्व बन्दना मन्दिर है।

देवता – इन्द्रः ।

यद् द्याव इन्द्र ! ते शतं, शतं भूमीरुत स्युः
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ।

ऋक् ८८°, ७०, ५।

विश्व पुरुष के असीम विस्तार की व्याख्या करते हुए वेद का कवि कहता है कि हम तो अभी इस एक सौरमंडल की भी थाह नहीं पा सके हैं। उस पर ब्रह्म के अनुशासन में तो ऐसी सैकड़ों भूमियाँ हैं, असंख्य सौरमंडल हैं ।

'हे वज्रिन इन्द्र यत् ते शतं द्यावः उत शतं भूमी स्युः' हे विराट पुरुष ! आपके अन्तर में तो ऐसे शतशत अन्तरिक्ष भी समाये हुए हैं । ये व्यापक अन्तरिक्ष भी **'त्वा न अनुअष्ट'** तुझे अपने में व्याप्त नहीं कर पाते।

'जातं रोदसी न अनु अष्ट' ये विशाल द्यावा पृथिवी, जितने भी हमारे ज्ञान में व्यक्त हो चुके हैं – वे सब भी आप में व्याप्त हैं । आप इनसे भी विराट हैं, विशाल हैं । हे विश्व पुरुष ! हमारी दृष्टि ही नहीं, हमारी ज्ञान क्षमता भी आपके अनन्त का पार नहीं पा सकती ।

अतुलनीय

तुझ-सा तू ही है भगवान।
कोई तेरे नहीं समान।

एक सूर्य ही नहीं सहस्रों–
मिलकर भी ना तेरे सम हों।
शतशत पृथ्वी नभ विशाल भी –
पा न सकें तेरा परिमाण।

तुझ-सा तू ही है भगवान।
सब लोकों के ग्रह उपग्रह भी
तुल्य नहीं होते मिलकर भी
तेरी थाह नहीं पाते हैं
तेरे बीच समा जाते हैं।

हे विराट, सीमा नहिं तेरी
तेरा नहीं कोई परिमाण
तेरा नहीं कोई उपमान
तुझ-सा तू ही है भगवान।
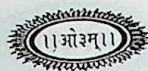
ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**प्रगाथम् (विराड्वाबृहती)** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

यद् द्याव इन्द्र! ते शतं, शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु, न जातमष्ट रोदसी ॥

—ऋक्० ८८।७०।५; अथर्व० २०।८१।१; ९२।२०;
—साम उत्तरार्चिक २।२।११; साम पूर्वार्चिक ३,२।९।६

(इन्द्र) परमेश्वर! **(यत्)** यदि **(ते)** तेरे **(शतं)** सौ **(द्यावः)** द्युलोक हों **(उत)** और यदि **(शतं)** सौ **(भूमीः)** भूमियाँ **(स्युः)** हों [तो भी वे तेरा प्रतिमान नहीं कर सकते]। **(वज्रिन्)** हे अनन्त सामर्थ्य! **(सहस्रं)** हज़ारों, अनन्तों **(सूर्याः)** सूर्य **(त्वा)** तुझे **(न)** नहीं व्याप्त कर सकते और **(जातं)** यह उत्पन्न हुआ संसार तथा **(रोदसी)** ये विशाल द्यावा-पृथिवी, ये ज़मीन-आस्मान सहस्रों होकर भी **(न अनु अष्ट)** तुझे नहीं व्याप्त कर सकते, तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते।

तुझ-सा तू ही है भगवान्!

एक व्योम क्या, ऐसे शत-शत
अन्तरिक्ष उसमें आच्छादित।
एक भूमि क्या, सौ भी कम हैं,
उसकी थाह अनन्त अगम है।
एक सूर्य क्या, सूर्य सहस्रों
मिल कर भी ना तेरे सम हों।
पृथिवी औ' द्युलोक दिवाकर
एक नहीं सौ-सौ भी आकर
तेरी थाह नहीं पाते हैं
तेरे बीच समा जाते हैं।
तेरा तोल नहीं परिमाण,
तुझ-सा तू ही है भगवान्॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – यम ।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः ।।

ऋक् १०.१९.२।।

मृत्यु का रहस्य जान लेने के बाद वेद के मृत्युंजयी ऋषि मानव मात्र को मृत्यु-भय से मुक्त होने का आदेश देते हैं ।

हे मनुष्यो ! तुम '**मृत्योःपदं योपयन्तः**' मृत्यु के पैर उखाड़ते हुए '**यदैत**' आगे बढ़ोगे, तभी '**द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः**' दीर्घ आयु पाओगे, और '**प्रजया धनेन आप्यायमानाः**' प्रजा और धन से भरपूर बनोगे, किन्तु इसके लिये तुम '**शुद्धाः पूताः यज्ञियासः भवत**' शुद्ध, पवित्र और यज्ञमय जीवन बिताओ, संयम-सदाचार से रहो ।

मृत्यु के काँटे गड़े हैं हर कदम पर
जिन्दगी में पग उठाना तुम संभल कर

मौत से तुम डर न जाना
मृत्यु भय पर विजय पाना

चरण चूमेगी स्वयं श्री-सम्पदा
धान्यधन से पूर्ण होयेगी प्रजा

यज्ञमय जीवन निभाना
राह उल्टी पड़ न जाना

शुद्ध मन की भावना रखना सदा
ईश चरणों में झुके रहना सदा

।।ओ३म्।।
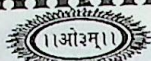
ऋषिः—सङ्कुसुकः (यामायनः)॥ देवता—मृत्युः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः॥

—ऋक्० १०।१८।२; अथर्व० १२।२।३०

हे मनुष्यो! (**यदा**) जब तुम (**मृत्योः पदं योपयन्तः**) मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए (**एत**) चलोगे, तो (**द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः**) तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करनेवाले तथा (**प्रजया धनेन आप्यायमानाः**) प्रजा और धन से परितृप्त होओगे। इसके लिए (**शुद्धाः**) बाहर से शुद्ध (**पूताः**) अन्दर से पवित्र और (**यज्ञियासः**) यज्ञिय जीवनवाले (**भवत**) हो जाओ।

मृत्युञ्जय

खेल उलटा कर रहे क्यों?

आयु ज्यों बढ़ती मरण की ओर त्यों पग धर रहे हो,
यह न निर्बलता तुम्हारी है कि जो नित मर रहे हो,
है परम सामर्थ्य का यह खेल जो तुम कर रहे हो,
थे अमर बस इसलिये तुम मृत्यु ही को वर रहे हो।

किन्तु आज सिहर रहे क्यों?

वीर थे इससे तुम्हें बलिदान की भाई भिखारिन,
क्रान्तिकारी थे इसी से क्रान्ति की भाई पुजारिन,
साम्यवादी थे रुची समदर्शिनी इस हेतु जोगिन,
थे खिलाड़ी आसतीं में पाल ली इस हेतु नागिन।

मृत्यु से फिर डर रहे क्यों?

खेल उलटा....... ?

मृत्यु की खाई हज़ारों खोद कर पथ में निरन्तर,
जब लगे तुम कूदने मृग-तुल्य अपनी चौकड़ी भर,
लोकप्रिय इतना हुआ, खेला गया यह खेल घर-घर,
खेलते ही आ रहे यह खेल तब से सब चराचर।

स्वयं आज मुकर रहे क्यों?

हाथ मुँह में मृत्यु के देते तुम्हीं थे डाल अपना,
और बाँका आज होने से बचाते बाल अपना,
सोच लो वह हाल अपना, देख लो यह हाल अपना,
देख लो वह भाल उन्नत और यह नत भाल अपना।
सर्द आहें भर रहे क्यों?

तुम कभी प्रह्लाद के सम मृत्यु को थे मुँह चिढ़ाते,
मृत्यु के थे कण्टकों को फूल की शय्या बनाते,
और नास्तिक रूप में भी मृत्यु पर थे विजय पाते,
मृत्यु से मरते असुर क्या, यदि न खुद भगवान आते।
शिखर छोड़ उतर रहे क्यों?

मृत्यु की खाई न देखो, मृत्यु के उस पार देखो,
कूदने का यह नियम तुम नित्य बारम्बार देखो,
आदि की उलझन न देखो, अन्त का श्रृंगार देखो,
युवतियों की मञ्जु करतल-ध्वनि, हृदय-उद्गार देखो,
फूँक कर पग धर रहे क्यों?

मृत्यु मरती थी तुम्हीं पर, वह तुम्हें थी मारती कब,
मृत्यु वरती थी तुम्हीं को, तुम जितेन्द्रिय थे कभी जब,
इन्द्रियों सम अप्सराओं में मगर तुम फँस गए तब,
मृत्युरूपी यह सती है बन गई पतिघातिनी अब-
फिर शिकायत कर रहे क्यों?

दुर्बलों को रोग पीड़ित कर रहा अभिसार इसका,
वृद्ध का क्रन्दन तिरस्कृत कर रहा अभिसार इसका,
नौजवानों को निमन्त्रित कर रहा अभिसार इसका,
और वीरों को पुरस्कृत कर रहा अभिसार इसका।
काँप फिर थर-थर रहे क्यों?
खेल उल्टा.................?

मृत्यु सावित्री बने यदि सत्यवान महान् हो तुम,
मृत्यु है चेरी तुम्हारी अगर भीष्म-समान हो तुम,
मृत्यु है संजीवनी यदि सत्त्व पर बलिदान हो तुम,

मृत्यु के न विधान हो तुम, मृत्यु के भगवान् हो तुम।
मृत्यु का दम भर रहे क्यों?
मृत्यु को तुम जीत सकते हो बिना घर-बार त्यागे,
सिद्धि यह तुम प्राप्त कर सकते बिना दिन-रात जागे,
यह स्वयं शतवार आएगी तुम्हारे वात आगे,
"यदि ज़रा संयम करो तो मृत्यु कोसों दूर भागे"
वह भला ऊपर रहे क्यों?
मृत्यु को जीते बिना तुम कुछ न कर सकते यहाँ पर,
श्रेष्ठ जीवन दूर, होगी मृत्यु भी दुष्प्राय सुन्दर,
और तुम मरते रहोगे ज़िन्दगी में भी निरन्तर,
सृष्टि पर तुम भार होगे और तुमको सृष्टि दूभर।
दुख न अपना हर रहे क्यों?
पैर को यदि मृत्यु के तुम ठेलते आगे बढ़ोगे,
दीर्घ आयु प्रजा अतुल धन-धान्य से परितृप्त होगे,
काम तुम कोई न कोई विश्व में मौलिक करोगे,
और निज अस्तित्व को सार्थक बना कर के रहोगे।
निरुद्देश्य विचर रहे क्यों?
फिर उठो यह घोषणा कर दो कि मृत्युञ्जय तुम्हीं हो,
यज्ञमय जीवन बनाकर बन गए अक्षय तुम्हीं हो,
बाह्य आभ्यन्तर सभी विधि शुद्धता में लय तुम्हीं हो,
सृष्टि और प्रलय न बाहर, सृष्टि और प्रलय तुम्हीं हो।
किन्तु आज ठहर रहे क्यों?
खेल उलटा कर रहे क्यों??

(श्री जगन्नाथप्रसाद,
५ पौष, १९९४)

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—रोहितादित्यः ॥ छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

स एति सविता स्वर्दिव स्पृष्ठेऽवचाकशत्।
रश्मिभि र्नभ आभृत महेन्द्र एति आवृतः ॥

—अथर्व० १३।४ (१) १-२

अध्यात्मम्

वह आ रहा है सविता, [देखो!]
अन्तरिक्ष की, द्यु की पीठ पर चमकता हुआ ॥
रश्मियों से नभ भर गया है,
महेन्द्र आ रहा है—[इनसे] घिरा हुआ ॥

देवता – ब्रह्म ।

स एति सविता स्वर्दिव स्पृष्ठेऽवचाकशत् ।
रश्मिभिर्निभ आभृतः महेन्द्र एति आवृतः ।।

अथर्व–१३.४.(१) १-२.।।

'स एति सविता' वह देखो, सविता, प्राणदायी भगवान भास्कर **'स्वर्दिव स्पृष्ठेऽवचाकशत्'** ज्योति रथ पर बैठकर आ रहे हैं। आकाश ने उनके स्वागत में अपने मस्तक पर कुंकुम लगाया है। **'रश्मिभिः नभ आभृतः** समस्त विश्व दिव्य–किरणों से जगमगा उठा है।

भगवान अंशुमाली की अगवानी के लिए उद्यत हो जाओ। जीवन-संग्राम में प्रस्थान करने के बिगुल बजा दो। सूर्य-किरणें तुम्हें अतुल बल का दान करेंगी। सूर्य का अमृत रथ तुम्हारे साथ रहेगा। जिसका नायक सूर्य हो, वह विजयी बनेगा ही।

'महेन्द्र एति आवृतः' महेन्द्र सामान्य देवता नहीं है। सब्र देवों का परम-देव महेन्द्र है। वह अपनी प्राणदायिनी शक्तियों के साथ आकाश में, अपने प्राण कोश से नित्य नवीन प्राण कोश ब्रितीर्ण करता हुआ अवतरित हो रहा है।

आओ हे महेन्द्र आओ! हे सूर्यदेवता आओ!
सारथि प्रभु के ज्योतियान के, अंशुमालि हे आओ!
नये प्राण भर दो भूतल में, नव प्रकाश भर दो जल-थल में!
भर दो धरती के आँचल में, आओ हे महेन्द्र आओ!

[वरुण-सूक्त]

देवता – वरुणः ।

मोषु वरुण ! मृण्मयं, गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥

ऋग्वेद ७।८९

भौतिक देह की क्षणभंगुरता अनुभव करने के बाद विरक्त ऋषि उस विरक्ति को स्थायी बनाकर आत्मिक सुख की कामना से प्रार्थना करता है –

हे प्रजापति वरुण ! हे जीवनदायी प्रभु ! आपने मुझे पाँच तत्वों का सुन्दर देह दिया, जिसमें संसारी सुखों के भोग की अतुल क्षमता भर दी । इस उपकार के लिए मैं कृतज्ञ हूँ ।

किन्तु हे दानी ! '**अहं मृण्मयं मा ऊषुः**' कहीं मैं फिर मिट्टी के इस पात्र को ही सुख का स्रोत न समझ लूँ। और इसके साज-सिंगार में ही जीवन की सम्पूर्ण शक्ति का व्यय कर दूँ।

हे '**मृळा सुक्षत्र मृळय**' सुख स्वरूप वरुण ! मेरे मिट्टी के घर में अपने अमर प्रकाश का दीपक जलाओ । उस प्रकाश में ही मुझे सुख का सच्चा मार्ग दिखलाई देगा ।

अमृत पात्र
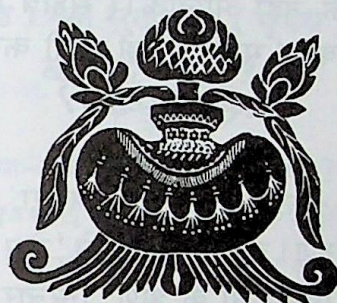
आओ हे आनन्दमय, आओ वरुण वर दो।
बन्धनों से जड़ जगत् के, मुक्त मन कर दो।

मृत्तिका के पात्र में, तुमने अमरता थी भरी।
मृत्तिका की ही पुजारिन, बन गयी मैं बावरी।

ज्ञान का दीपक जलाकर, मोह मेरा प्रभु हरो।
हे सुधा के सिन्धु, मन में शान्ति शाश्वत अब भरो।

वरुण-सूक्त

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

१. मोषु वरुण! मृन्मयं, गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(**राजन्**) हे राजा वरुण! (**अहं**) मैं (**मृन्मयं गृहं**) मिट्टी के बने हुए घर [इस भौतिक देह को] (**मा उ षु गमम्**) निश्चय से कभी नहीं प्राप्त होऊँ, नहीं अपनाऊँ। (**सुक्षत्र**) हे शुभ शक्तिवाले! (**मृड**) मुझे सुखी कर (**मृडय**) मुझे सुखी कर।

बरसो प्यारे?

(१)

मिट्टी का घर बना बसेरा,
वरुण! कहूँ क्या इसको 'मेरा'?
विपदाओं के त्राण! निरन्तर,
सुन्दर! बरसो, प्रिय! उर अन्तर्।

वरुण-सूक्त

२. यदेमि प्रस्फुरन्निव, दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(**अद्रिवः**) हे शक्तिमत्प्रभो! (**यत्**) जोकि मैं (**ध्मातः दृतिर्न**) वायु से फूँककर फुलाई गई धोंकनी के समान (**प्रस्फुरन्निव एमि**) फूला-फूला-सा फिरता हूँ (**सुक्षत्र**) हे शुभ शक्तिवाले! (**मृड**) मुझे सुखी कर (**मृडय**) मुझे सुखी कर।

बरसो प्यारे?

(२)

मैं चलता हूँ फूला फूला,
भरी धोंकनी-सा गर्वीला,
व्यर्थ मान को सहज दूर कर,
सुन्दर! बरसो, प्रिय! उर अन्तर्!

वरुण-सूक्त

३. क्रत्वः समह दीनता, प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(समह) हे तेजोयुक्त! **(शुचे)** हे दीप्यमान! **(दीनता)** दीनता, अशक्तता के कारण मैं **(क्रत्वः)** अपने क्रतु से, सङ्कल्प से, प्रज्ञा से, कर्त्तव्य से **(प्रतीपं)** उलटा **(जगम)** चला जाता हूँ। **(सुक्षत्र)** हे शुभ शक्तिवाले! **(मृड)** मुझे सुखी कर **(मृडय)** मुझे सुखी कर।

बरसो प्यारे!

(३)

वरुण-पुत्र हूँ, दीन हुआ क्यों?
विजय-भाव से क्लान्त हुआ क्यों?
सिर पर माँ का अमृत-भरा कर,
बरसो प्रिय! मेरे उर अन्तर्।

वरुण-सूक्त

४. अपां मध्ये तस्थिवांसम्, तृष्णाऽविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(जरितारं) मुझ स्तोता को **(अपां मध्ये तस्थिवांसं)** पानी के बीच में बैठे हुए भी **(तृष्णा)** प्यास **(अविदत्)** लग रही है। **(सुक्षत्र)** हे शुभ शक्तिवाले! **(मृड)** मुझे सुखी कर **(मृडय)** सुखी कर।

बरसो प्यारे!

(४)

खड़ा हुआ मैं बीच सरोवर,
तृषित प्यास से हूँ व्याकुल पर।
यह खारी जल; हे प्रिय सुन्दर!
मंगल-घन! बरसो उर अन्तर्।

देवता – वरुणः ।

अपां मध्ये तस्थिवांसम्,
तृष्णाऽविदज्जरितारम् ।
मृला सुक्षत्र मृलय ।।

ऋग्वेद ७/८९.

संसार की समस्त भोग्य सामग्री प्राप्त होने के बाद भी जब साधक की आत्मा प्यासी रह जाती है, तब वह प्रभु से करुणापूर्ण स्वर में आत्मनिवेदन करता है ।

'अपां मध्ये तस्थिवांसं जरितारं तृष्णा अविदत्' मैं भक्त अथाह जलराशि के मध्य खड़ा हूँ, फिर भी मेरी प्यास शान्त नहीं होती । वह विपुल जल मेरी प्यास बुझाने में असमर्थ है । बुझाने के स्थान पर वह उसे और भी तीव्र बना रहा है ।

संसार के सब भोग मुझे सुलभ हैं । मेरी कल्पना थी कि इस संचित भोगराशि से मुझे सुख मिलेगा । किन्तु भोग मुझे और भी तृषित बना रहे हैं ।

हे **'मृला सुक्षत्र मृलय'** सुख स्वरूप प्रभु ! मुझे सुखी करो । शक्ति दो कि मैं इस मायाजाल को तोड़कर आपकी शरण आ सकूँ । मुझे अपने आत्मिक सुख का महत्व समझने की शक्ति दो ।

अनन्त तृष्णा

हे सुधा के सिन्धु आओ,
प्यास यह मेरी बुझाओ।

सागरों के ज्वार में भी,
घनघटा बौछार में भी।

बुझ न पायी योजनों फैली
नदी की धार में भी।

बूंद-भर अमृत पिलाओ,
अमरता का पथ दिखाओ।

हे सुधा के सिन्धु आओ,
प्यास यह मेरी बुझाओ।

जगत की माया बढ़ायी,
और भी तृष्णा जगायी।

बाहरी जग ने लुभाया,
जोत अन्दर की बुझायी।

जो रहे शाश्वत हृदय में,
दीप अब ऐसा जगाओ।

हे सुधा के सिन्धु आओ,
प्यास यह मेरी बुझाओ।

।।ओ३म्।।

ऋषिः—**अवत्सारः** (निर्मोह, प्रेममय, सन्तुष्ट) ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तरत्स मन्दी धावति, धारा सुतस्यान्धसः ।

तरत्स मन्दी धावति ॥ —साम पूर्वार्चिक ६।२।४; ऋक्० ९।५८।१

(सुतस्य अन्धसः) [ईश्वर की आराधना से] उत्पन्न हुए प्राण-प्रद सोम-रस की **(धारा)** धारा से **(स मन्दी)** मस्त हुआ वह मस्ताना **(तरत्)** तैरता-सा **(धावति)** दौड़ता है। **(स मन्दी)** वह मस्ताना **(तरत्)** तैरता-सा **(धावति)** दौड़ता है।

मन्दी

(उल्लास)

१. वह कौन आ रहा है महान् ?
दोलायमान, दोलायमान।
उसको न रहा अस्तित्व-ज्ञान।
वह कौन आ रहा है महान् ?

२. लहराते उसके मुक्त केश,
छू-छूकर उसका पृष्ठ-देश।
अति दिव्य अनिर्वचनीय वेश,
लहराते उसके मुक्त केश।

३. उसका उन्मद नद-सा प्रवाह,
जिसमें उफनाता महोत्साह।
बस बढ़ो बढ़ो की एक चाह।
उसका उन्मद नद-सा प्रवाह!

४. वह दौड़ रहा ऊपर ऊपर।
उसके न पाँव पड़ते भू पर।
गति पाती गति उसको छूकर।
वह दौड़ रहा ऊपर ऊपर।

५. वह हुआ आज उड्डीयमान,
मानो कर प्रभु का प्रेम पान।
निज का न ध्यान, पर का न ज्ञान।
वह हुआ आज उड्डीयमान।

६. वह मुक्त तरी-सा प्रवहमान।
बस प्रवहमान, बस प्रवहमान।
रह गया दिशावधि का न ज्ञान।
वह मुक्त तरी-सा प्रवहमान।

७. जैसे लहरों पर एक फूल।
हाँ, मति, गति, संज्ञाहीन फूल।
रुकता न कहीं, छूता न कूल,
जैसे लहरों पर एक फूल।

८. बहना बस बहना; एक बात।
उसको न दिवा, उसको न रात।
सब स्वप्रसात्, सब भस्मसात्।
बहना बस बहना; एक बात।

९. उसने पाया उल्लास, प्रेम,
देकर हरि को निज योगक्षेम।
उसको न चाहिये रत्न, हेम।
उसने पाया उल्लास, प्रेम।

१०. मेरा भी यह चिर चंचल मन।
मेरा भी लघु नश्वर जीवन।
कल्लोलित होता क्षण-प्रतिक्षण।
मेरा भी यह चिर चंचल मन।

११. अब सुन पड़ती अन्तस् की ध्वनि।
अब उमड़ी अन्तर् की सुर-धुनि।
गूँजी तन-मन में ध्वनि-प्रतिध्वनि।
अब सुन पड़ती अन्तस् की ध्वनि॥

(**श्री गिरिजाशङ्कर मिश्र 'गिरीश'**
२९ मार्गशीर्ष, १९९४)
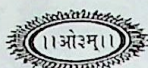
ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** (मीठे सङ्कल्पवाला) ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया, पवस्व सोम! धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥

—ऋक्० ९।१।१; यजु० २६।२५; सामवेद, पूर्वार्चिक ५।९।२

(सोम) हे सोम! तू **(स्वादिष्ठया)** अत्यन्त रसीली **(मदिष्ठया)** अत्यन्त नशीली **(धारया पवस्व)** धारा के रूप में प्रवाहित हो। [जीव-जगत् को] पवित्र कर। **(सुतः)** तेरा जन्म इस लिये हुआ है कि **(इन्द्राय पातवे)** मैं इन्द्रियों का राजा तेरा पान करूँ।

नशीली रसीली लहर

बहती नवल नशीली धार॥
झूम-झूम मदमाती लाती,
सुख-संजीवन सार।
रोम-रोम बन ओंठ चूसता,
ऐसा सरस ख़ुमार।
मेरी देवपुरी के राजा!
करो ग्रहण उपहार।
बहती नवल नशीली धार॥

(**चमूपति,**
फाल्गुन, १९९१)

देवता – पवमानः सोमः ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया, पवस्व सोम ! धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।।

ऋक् – ९. १. १; यजु. २६. २५ ।।
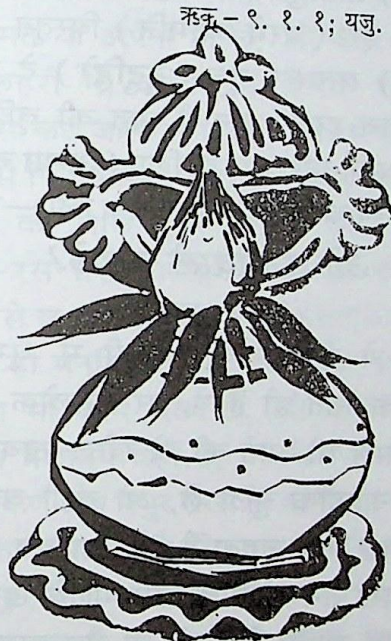
मादक मधुर सोमरस बहता, शत सहस्र धाराओं में,
पर्वत के झरते झरनों में, सौरभ भरी हवाओं में,
देव पुत्र तेरा अभिषिंचन, करने सावन-घन आते।
तेरे अर्चन को ही सागर, मंगल घट भर-भर लाते,
तेरे गीतों का गुँजन-रव, फैला दिशा-दिशाओं में।
मादक मधुर सोमरस बहता, शत-सहस्र धाराओं में।
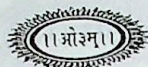
ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे, सत्यामाशिरं परमे व्योमनि।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे, चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत॥

—साम पूर्वार्चिक ६।७।७; उत्तरार्चिक ६।२।१७; ऋ० ९।७०।१

(सप्त धेनवः) सात दुधेल गायें [तो पहले ही] **(त्रिः)** तीन-तीन बार **(अस्मै)** इस **(परमे व्योमनि)** विस्तृत अन्तरिक्ष में का **(सत्यां आशिरम्)** सत्यरूप दूध **(दुदुह्रिरे)** दे रही थीं। **(यत् ऋतैः अवर्धत)** जब इसके ज्ञान में ऋत की वृद्धि हुई तो इसने **(निर्णिजे)** इस दूध के परिष्कार के लिए **(अन्या चत्वारि चारूणि भुवनानि चक्रे)** अन्य चार सुन्दर भुवन बना लिए—मञ्जिलें बना लीं।

ओ वंशीवाले ग्वाले?

[चार भुवन]

१. अद्भुत ये तेरी गायें, जगती में धूम मचातीं।
माना कि सात ही हैं ये, पर सप्तलोक तक जातीं।
कुछ इससे भी आगे की, ये खोज-खबर ले आतीं।
इनको नज़दीक बुला ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

२. जब सारा जग जगता है, ये दत्तचित्त बस चरतीं।
जब सारा जग सोता है, तब भी ये खूब विचरतीं।
जब सब सुषुप्ति में जाते, ये बैठ जुगाली करतीं।
इनका कुछ मन बहला ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

३. जो वस्तु सामने आए, उसको ही ये खा जाएँ।
जो कुछ खा जाएँ उसको, ये झटपट पुनः पचाएँ।
वे दुहे हुए दुनिया में, ये दुग्ध-धार बरसाएँ।
इनकी कुछ श्रांति मिटा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

४. कर दुग्ध-पान तू इनका, हो गया ज्ञानमय ऐसा।
त्रिभुवन तूने रच डाले, बस चाहा तूने जैसा।
तेरे ऊपर कृतज्ञता का भार लदा है कैसा।
सिर से यह बोझ हटा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

५. पार्थिव तत्त्वों से तूने, यद्यपि त्रैलोक्य बनाए।
आदित्य, चन्द्र, तारों से, फिर तूने साज सजाए।
पर ये कठोर नीरस हैं, आनन्द कहाँ से आए।
इनको भी सरस बना ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

६. अन्तर् में तेरे जो है, वंशी वह बाहर कर ले।
छिद्रों पर अँगुली रखके, अधरों पर अपने धर ले।
विश्राम, शांति गायों को, देकर जो चाहे वर ले।
अभिमत यों अपना पा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

७. स्वरलहरी में, कम्पन में, इसके ऐसा संजीवन।
जिससे कट जाता सारा है, मर्त्य लोक-रुज बन्धन।
जिससे फिर स्वस्थ, युवा हो, हँसने लगता है जीवन।
अपने को आज छुड़ा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

८. वंशी-रस तेरा पारस, तत्त्वों का लौह बदलता।
जिस से छू जाते ही बस, चमकीला स्वर्ण निकलता।
इससे ही मनस्वियों का, सब काम-धाम है चलता।
अपना भी काम चला ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

९. यद्यपि त्रैलोक्य वहीं हैं, पर कितना अब है अन्तर।
कण-कण अब मधुर सरस है, कोमल इनका आभ्यन्तर,
सुन्दरता बरस रही है, त्रिभुवन के अब अणु-अणु पर।
मत रुक, कुछ और बजा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

१०. हाँ त्रिभुवन से भी आगे, है लोक अनाम अगोचर।
द्वन्द्वों का लेश नहीं है, उस अद्भुत थल के ऊपर।
हे मित्र वहीं अब ले चल, अपने को स्वरलहरी पर।
उसका भी मज़ा उड़ा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

११. आनंद चतुर्दिक् छाया, अब आया तू उस थल पर।
त्रिभुवन के आनन्दों से, पर इसमें है कुछ अन्तर।
वे हैं विषाद सापेक्षिक, यह है निरपेक्ष निरन्तर।
अब डेरा यहीं जमा ले, ओ वंशी वाले ग्वाले!!

(श्री नानकचन्द 'निश्चिन्त',

१६ पौष, १९९४)
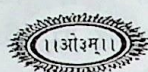
ब्रह्मप्रकाशिसूक्तम्

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

१. अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या,
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ १ ॥

—अथर्व० १०।२।३१-३३

(**अष्टा चक्रा**) आठ चक्रोंवाली (**नव द्वारा**) नौ दरबाज़ोंवाली (**देवानाम् अयोध्या पूः**) देवताओं की एक अयोध्या, दुर्जेय नगरी है। (**तस्यां**) उस नगरी में (**ज्योतिषा आवृतः**) ज्योति से ढका हुआ (**स्वर्गः**) सुखदायक, स्वर्गरूप (**हिरण्ययः कोशः**) एक सुनहला 'कोश'-[पिण्ड] है।

अयोध्या (१)

तीन-तीन, बार-बार!! आठ चक्र नव द्वार....
अजेय देव-नगरी।
हिरण्मयी यहाँ बनी,
ज्योति में सदा सनी,
स्वर्ग की कला निहार...
तीन-तीन, बार-बार......।

कुबेर का हिरण्य-कोष,
पूजनीय विगत-रोष,
आत्मवान् हीन-दोष,
सखि! अवाक् जग री!
यक्ष कर रहा विहार॥

तीन-तीन, बार-बार.....।
भावना का गान रहा,
जान रहा जान रहा,
'देव! ब्रह्म! स्वागतम्!'
ज्ञान भासमान रहा।.....

अष्टचक्र=मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, प्लीहाचक्र, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्त्रार॥
नवद्वार=कर्णौ इमौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्। पायूपस्थे च॥
कोश=हृदय। **यक्ष**=आत्मा। **पूः**=देहरूप नगरी॥

२. **तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते,**
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ २ ॥

(तस्मिन्) उस **(त्रि-अरे)** तीन अरोंवाले **(त्रिप्रतिष्ठिते)** तीन वस्तुओं पर स्थित, तीनों कालों में प्रतिष्ठित **(हिरणमये कोशे)** सुनहले कोश में **(यत् आत्मन्वत् यक्षं)** जो आत्मवान् यज्ञमय पुरुष है **(तत्)** उसे **(वै)** निश्चय से **(ब्रह्मविदः)** ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही **(विदुः)** जानते हैं।

३. **प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्,**
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३ ॥

उस **(प्रभ्राजमानां)** अत्यन्त चमकीली **(हरिणीं)** आकर्षक **(यशसा संपरीवृताम्)** कीर्ति से व्याप्त—अत्यन्त यशस्विनी **(अपराजिताम्)** दुर्जेय **(हिरणमयीं पुरम्)** सुनहली नगरी में **(ब्रह्मा)** वह परमब्रह्म **(विवेश)** विराजमान हैं, प्रविष्ट हुए हैं।

अयोध्या (२-३)

अमेय पुण्य लहरी-
चेतना सहस्त्रधार।
तीन-तीन, बार-बार.....

मनोहारिणी सुरूप,
तमोविहीन धूप-धूप,
यश से भरी अभेद्य
भ्राजमान देहरूप
अ-पराजिता अनूप
अजेय देव-नगरी-

में प्रविष्ट ब्रह्म देव
हो रहे अवश्यमेव।
तभी तो सभी विकार
हुआ शान्त, सुधार-सार
स्वर्ग में सजे हैं आज,
अजेय देव-नगरी ॥

तीन-तीन, बार-बार!! अष्ट चक्र नव द्वार.....

(वेदव्रत,
२६ मार्गशीर्ष, १९९४)

त्रि-अरे=ज्ञान, कृति, उपासना (इच्छा) रूप। यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभौ इव अराः ॥
त्रिप्रतिष्ठिते=येनेदं भूतं, भुवनं, भविष्यत्, परिगृहीतं अमृतेन सर्वम् ॥

देवता – अग्निः ।

उप त्वाऽग्ने दिवे दिवे,
दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।।

ऋक्. १.१.७. ॥
साम पूर्वार्चिक ११.४. ॥

वेद का आत्मज्ञानी ऋषि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, धर्म-कर्म को प्रभु के अर्पण करके जीवन यात्रा करता हुआ प्रभु से आत्म-निवेदन करता है –

हे अग्ने! अनन्त ज्योति स्रोत प्रभु। अब हमारी जीवन-यात्रा का केवल एक ही लक्ष्य रह गया है। – '**वयं दिवे दिवे दोषावस्तः धिया नमो भरन्तः त्वा उप एमसि**' दिन-रात के प्रत्येक प्रहर का एक-एक क्षण हमें आपके लक्ष्य तक पहुँचा रहा है। हमारे जीवन की सब पथ-वीथिकायें आपके चरणों में अर्पित होने के लिए आपके निकट ला रही हैं।

हे प्रभु! हमारा प्रत्येक विचार और अनुष्ठान केवल आपकी अर्चना के लक्ष्य से होता है। बुद्धि से विचार करते हुए भी हम यह जानते हैं। हम केवल आपके निर्देशों का अनुकरण कर रहे हैं और कर्म करते हुए भी हमें यही अनुभव रहता है कि हम केवल आपके आदेशों को मूर्त रूप दे रहे हैं।

नमो भरन्तः

वन्दन ही जीवन है मेरा, वन्दन पुण्य निधन है।
दिन-दिन, पलदिन, साँझ-सकारे आता मैं तेरे ही द्वारे।
मेरे श्वास-श्वास में हे प्रभु, तेरा ही स्पन्दन है।
अहोरात्र अविराम चलें नित, तुझ को शीश नवायें।
पूजा करने को तेरे ही, जीवन अर्घ्य बनायें।
कोटि-कोटि वर्षों से पथ में, बीते जन्म-मरण हैं।
वन्दन ही जीवन है मेरा, वन्दन अमृत निधन है।
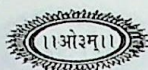
ऋषि:—**मधुच्छन्दा:** (मीठे सङ्कल्पोंवाला) ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उप त्वाऽग्ने! दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥

—ऋक्० १।१।७ ; साम पूर्वार्चिक १।१।४

(अग्ने) हे अग्ने! **(वयं)** हम **(दिवे दिवे)** प्रतिदिन **(दोषावस्तः)** रात और दिन के समय [साँझ-सवेरे] **(धिया)** बुद्धि व कर्म से **(नमो भरन्तः)** नमस्कार की भेंट लाते हुए **(त्वा)** तेरे **(उप)** समीप **(एमसि)** आ रहे हैं।

उपैमसि

(प्रभु की निकटता)

आ रहा हूँ पास तेरे।

मैं समझता था कि यह दिन-रात का है चक्र निर्दय,
मैं समझता था कि यह करता सभी को मृत्यु में लय,
प्रश्न उठता था कि है यह कौन क्रीड़ा कौन अभिनय?
जान पर आई यहाँ बन और तुझ को सुख? दयामय!
रात-दिन सन्ध्या सवेरे।
आ रहा हूँ पास तेरे॥

.....आ रहा हूँ पास......

अब खुला, मैंने स्वयं यह शोक-अभिनय देव! खेला,
पाल करके पास अपने इन्द्रियों का यह झमेला,
किन्तु तेरी नित्य की संयोजिका यह सन्धि-वेला,
छेड़ जाती है मुझे एकान्त में पाकर अकेला-
झिलमिलाते मुँह अँधेरे।

अब समझने लग गया कुछ कुछ मग़र तेरे इशारे,
हैं भवन तेरे वहीं, उस पार से भी दूर न्यारे,
आज तक जिनके निकट पहुँचे न यह रवि चन्द्र तारे,
रात दिन की सीढ़ियाँ ले जा रहीं उनके किनारे।
तू जिन्हें स्वयमेव घेरे।

जानता हूँ सीढ़ियाँ भी, सीढ़ियाँ हैं ये निराली,
है कहीं लाली उषा की, है कहीं पर रात काली,
है कहीं रंगीन आशा, हैं कहीं नैराश्य वाली,
हैं कहीं पर वास्तविक कुछ, हैं कहीं पर स्वप्न खाली-
हैं अनोखे यह बसेरे।

सीढ़ियाँ यह मृत्यु-सी बिलकुल कहीं टूटी हुई हैं,
यह कहीं बिगड़ी हुई तक़दीर-सी फूटी हुई हैं,
पद्दलित हैं रूढ़ि-सी, अरमान-सी लूटी हुई हैं,
यह भविष्यत्-सी कहीं पर सर्वथा छूटी हुई हैं-
कल्पना से भी परे रे!

बेड़ियाँ-सी प्रलय और विराम के पद भी जकड़ कर,
ये अनोखी सीढ़ियाँ ले जा रहीं सब को निरन्तर,
हैं पुरातन की मग़र विद्युत् भरे अतुलित चपलतर,
आजकल के यन्त्र से जाती नहीं हैं और ऊपर-
सब तरफ से पीठ फेरे।

राह में कुछ दूर तक ही धूल से ये धूसरित हैं,
इस तरह सामान्य जन से ये न आगे पद्दलित हैं,
किन्तु तब यह ज्योति ही में हैं ढली छबि में निहित हैं,
और पग-पग पर नई मञ्ज़िल सदृश करती चकित हैं-
सब सरफ मोती बिखेरे।

आ रहा हूँ पास तेरे।....
.....आ रहा हूँ पास.......

फिर न संध्याएँ उषाएँ इस तरह विष घोलती हैं,
फिर न इस निर्दय तरह से हृदय-स्नेह टटोलती हैं,
फिर न पत्थर-सी बनी कुछ भी न हिलती डोलती हैं,
फिर नहीं मुँह फेर लेतीं, किन्तु हँसती बोलती हैं-
और रहती डाल डेरे।

आज ही से अग्रणी हे अग्नि! दुःसाहस करूँगा,
रात दिन की इन अपरिमित सीढ़ियों पर मैं चढ़ूँगा,
पैर दायाँ मैं दिवस पर रात पर बायाँ धरूँगा,
हर कदम पर मैं सजग रह कर सदा आगे बढ़ूँगा-
जानता हूँ हैं लुटेरे।

है सुना इन सीढ़ियों पर से बड़े गुणवान फिसले,
है सुना इन सीढ़ियों पर से महर्षि महान् फिसले,
और इस हद तक सुना—स्वयमेव शिव भगवान् फिसले,
किन्तु निज उद्देश्य से दिन-रात के न विधान फिसले,
यह न मेरे यह न तेरे।

किन्तु यह होते हुए भी मैं सदा बढ़ता रहूँगा,
क्या हुआ इससे कि मैं इस राह में गिरता रहूँगा,
क्या हुआ इससे कभी जीता कभी मरता रहूँगा,
नित्य गिर-गिर कर उठूँगा, मैं सदा चढ़ता रहूँगा-
प्रति अहो-निशि के सवेरे।

जानता हूँ, भेंट देने की सदा से रीति प्रचलित,
जानता हूँ बुद्धि मेरी, हे असीम! नितान्त परिमित,
और सब सत्कर्म भी मेरे अधूरे और खण्डित,
किन्तु फिर भी कर रहा हूँ मैं इन्हें तेरे समर्पित,
सिर झुकाए लाज से रे!

कर्म भी तुझ को समर्पित, कर्म की यह कामना भी,
भाव भी तुझ को समर्पित, भाव की यह भावना भी,
मुक्ति भी तुझ को समर्पित, मुक्ति की यह साधना भी,
अन्त की भी सिद्धि अर्पित, आदि की प्रस्तावना भी-
और क्या है पास मेरे? हे चिरन्तन स्वप्न मेरे!
आ रहा हूँ पास तेरे॥

(श्री जगन्नाथप्रसाद,
२२ मार्गशीर्ष, १९९४)

वरुण-सूक्त

ऋषिः—**वसिष्ठ**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**जगती (पादनिचृत्)**॥
स्वरः—**निषाद**॥

५. यत्किंचेदं वरुण! दैव्ये जने, अभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम, मा नस्तस्मादेनसो देव! रीरिषः॥

(वरुण) हे वरुण! **(मनुष्याः)** हम मनुष्य **(दैव्ये जने)** तुझ दिव्यजन में **(इदं यत्किंच अभिद्रोहं)** यह जो कुछ द्रोह **(चरामसि)** किया करते हैं, **(अचित्तीः)** अज्ञान और असावधानता से **(यत् तव धर्मा युयोपिम)** जो तेरे धर्मों का लोप किया करते हैं **(देव)** हे देव! **(तस्मात् एनसः)** उस पाप के कारण **(नः मा रीरिषः)** हमारी हिंसा नहीं करो।

(५)

जो भी कुछ कभी यह वरुण! दिव्यजन में,
अभिद्रोह-भावना मनुष्य कर जाते हैं।
चित्त के प्रमाद से या बोध के अभाव से जो
तेरे शुद्ध नियमों का लोप कर पाते हैं।
भूल जाना अज्ञता का यों हमारा पाप देव!
हिंसित न कर और तेरे पास आते हैं।
सभी ओर तेरी दिव्य भावना की वन्दना में,
उमड़े हृदय आज; तेरे शिशु गाते हैं॥

(वेदव्रत,
फाल्गुन, १९९०)

देवता – पवमानः सोमः।

एषस्य धारयासुतो—अव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
क्रीड न्नूर्मिरपामिव ।। सामवेद पूर्वार्चिक ६.९.७.॥

विश्व के असीम सोम सागर – प्राणों के अनन्त प्रवाह को देखकर वेद का ऋषि स्वयं उसी मदभरे सरोवर में डूबकर कहता है:—

'एषः स्यः मदिन्तमः धारया सुतः' प्रभु की यह अत्यन्त मदभरी सोमसुधा जगत् की असंख्य धाराओं में बह उठी है। विश्व के कण-कण में उसका रोमांच प्रकट हो रहा है।

उसी अमृत कण को पीकर सूर्य, चन्द्र और अन्तरिक्ष निरन्तर क्रीड़ा कर रहे हैं और उसी अजस्रवाहिनी सुधा-धारा का पान करके पृथिवी की वनस्पतियाँ फूलों के रूप में अपना उल्लास प्रकट कर रही हैं।

"अपां उर्मिः इव क्रीडन् अव्या वारेभिः पवते' मानव हृदय की सब भावनाएँ भी पानी की तरंगों की तरह खेलती हुई उसी दिव्य पियूष का पान करके अनुप्राणित होती हैं। इस दिव्य अमृत की एक बूँद भी जीवन को पवित्र आनंद और उल्लास से पूर्ण कर देने को पर्याप्त हैं।

सोम ज्वार

मदभरी तेरी सुधा की,
धार बहती निर्झरों में ।
भावनाओं की तरंगें,
खेलती मन के स्वरों में ।

बादलों से दिव्य तेरा,
सोम अमृत झर रहा है ।
सूर्य किरणों से धरा के,
प्राण पुलकित कर रहा है ।

मदभरा आनन्द उठता
ज्वार बनकर सागरों में ।

पंख खोले पवन उड़ता ।
जा रहा लोकान्तरों में ।
विश्व रोमांचित हुआ है ।
सोम के ही स्पर्श से ।

दिव्य स्वर से गीत गातीं ।
सब दिशाएँ हर्ष से ।
मदभरी तेरी सुधा की,
धार बहती निर्झरों में
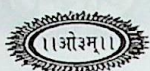
ऋषिः—**उरुः (आङ्गिरसः)** [विशाल] ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**प्रगाथः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥ —सामवेद पूर्वार्चिक ६।९।७

(एषः) यह **(स्यः)** वह **(मदिन्तमः)** अत्यन्त नशीला [सोम-रस] **(धारया सुतः)** धारा के रूप में प्रकट होकर **(अपाम् उर्मिः इव)** पानी की तरंग की तरह **(क्रीडन्)** खेलता हुआ **(अव्याः वारेभिः)** भावनापूर्ण रोमाञ्च के द्वारा **(पवते)** पवित्रता ला रहा है।

विश्व-रोमाञ्च

इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
तड़प! तेज़ हो, व्योम-विहारी बादल बन उड़ जाऊँ।
लोक-लोक में घूम-घूम कर बरसूँ, सुख बरसाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
बन तरंग लिपटूँ सागर से, लाड-चाव सुख पाऊँ।
उछलूँ कूदूँ मचलूँ नाचूँ, सीकर-रास रचाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
दिनभर रवि-किरणों में रल-मिल चमकूँ जग चमकाऊँ।
रात पाँति में तारा-गण की बैठ ज्योति झलकाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?
पवन-पक्ष परहूँ पक्षी बन उड़-उड़ गगन गुँजाऊँ।
प्रणव-प्रीति का शिखर-शिखर पर शंकर-नाद बजाऊँ॥
इस तन में किस भाँति समाऊँ ?

(चमूपति,
फाल्गुन, १९९१)
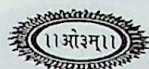
ऋषिः—विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा, वसुकृद् वा वासुक्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥
छन्दः—अनुष्टुप् (निचृत्) ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु, सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो, धेनूनां न वज्रिवः ॥

—ऋक्० १०।२२।१३

(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**ते**) तेरे प्रति की गई (**ताः**) वे (**अहिंसन्तीः**) हिंसारहित (**उपस्पृशः**) मार्मिक प्रार्थनाएँ (**अस्मे**) हमारे लिए (**सत्या**) सत्य (**सन्तु**) हो जावें, ऐसी हो जावें कि (**यासां**) जिन प्रार्थनाओं के (**भुजः**) भोगों को, फलों को (**वज्रिवः**) हे वज्रवाले ! हम (**धेनूनां न**) दुहनेवाली गौओं के भोगों की तरह (**विद्याम**) प्राप्त करें।

कामनाएँ सफल हों

हे शक्तिधाम ! ऐश्वर्यपुञ्ज अविनाशी,
कुछ सुनो टेर दुखिया की घट-घटवासी !
युग बीत गए हैं अगणित वन्दन करते,
नित उन्मुख हो पथ देख अश्रुजल झरते।
क्या करुण टेर ने हृदय न प्रभु छू पाया,
फिर क्यों न आपका चित्त द्रवित हो आया।
हे नाथ !, न मैंने अहित किसी का चाहा,
रख दयाभाव जगती से प्रेम निबाहा।
फिर क्यों विरक्ति यह और किस लिए देरी,
अब करो कृपा कर पूर्ण कामना मेरी।
वे सत्य बनें शुभ भोगरूप फल लावें,
वे कामधेनु बन मधुर दुग्ध बरसावें॥

(**श्री सत्यकाम 'परमहंस',**
मार्गशीर्ष, १९९४)

देवता – कामः ।

दूराच्चक्रमानाय प्रतिपाणाय अक्षये
आस्माः अश्रृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्स्वः ।

अथर्व १९. ५२. ३.

विश्व की प्रचंड देवशक्तियों से भयभीत होकर वेद का विनयशील कवि जब अकस्मात् प्रभु का यथेष्ट वरदान पा जाता है, तो भावविभोर होकर पुकार उठता है।

हे प्रभु ! आपने तो विलक्षण अनुकम्पा और दानशीलता का वरदान दे दिया। मैंने तो **'दूरात् चक्रमानाय'** दूर-दूर से ही बड़े संकोच के साथ केवल **'अक्षये प्रतिपाणाय'** चिर सुरक्षा की भीख माँगने को हाथ बढ़ाया था। मुझे आपकी विश्व-शक्तियाँ आतंकित कर रही थीं।

किन्तु मेरी अत्यन्त शंकाकुल मन से की गयी प्रार्थना को भी **'आस्माः आशाः अश्रृण्वन्'** चतुर्दिक दिशा-दिशान्त ने सुन लिया। मुझे भय था कि मेरी आतुर वाणी आपके कानों तक नहीं पहुँचेगी, अथवा आप उस निर्बल वाणी की उपेक्षा कर देंगे।

किन्तु मेरी वाणी के कातर स्वरों को सभी दिशाओं ने सुन लिया। और अकस्मात् ही **'कामेन स्वः अजनयन्'** विपुल सुख की वर्षा होने लगी। सुख की धारायें-सी बह उठीं।
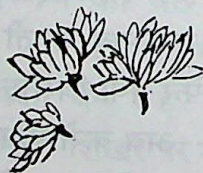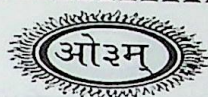
अमृत वर्षा

हम कितने नादान बने थे
कितने थे नादान।
प्रभु की महिमा देख डर गये,
विनय सुनेंगे क्या भगवान् ?

दूर-दूर से विनय किया था,
मन में पर यह प्रश्न बना था
क्या त्रिलोक स्वामी है सम्भव
तुम सुन पाओ हृदय-व्यथा ?

किन्तु हमारी मनोकामना
सुनी आपने द्रवित हुए।
दशों दिशाओं से करुणा के
बादल उमड़े स्रवित हुए।

एक बूँद मैंने माँगी थी
अमृत की धारा बरसाई।
पृथ्वी - नभ के देवगणों ने
करुणा अविरल दिखलाई।

वसुन्धरा ने गोद खिलाया
दिया अमित धन-धाम ?
हम कितने नादान बने थे
कितने थे नादान।
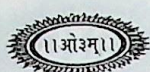
ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा उष्णिक्** ॥
स्वरः—**ऋषभः** ॥

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये।
आस्मा अश्रृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन् स्वः ॥

—अथर्व० १९।५२।३

(दूरात्) दूर से, दूरस्थ विषय की **(चकमानाय)** बार-बार कामना करते हुए **(अक्षये)** अक्षय [ईश्वरीय हृदय] में **(प्रतिपाणाय)** प्रतिपालन के लिए, रक्षा के लिए, [पुकारते हुए] **(अस्मै)** इस मुझे **(आशाः)** दिशाओं ने **(आ अश्रृण्वन्)** सुन लिया है और **(कामेन)** सङ्कल्प द्वारा **(स्वः)** उसके सुख को **(अजनयन्)** उत्पन्न कर दिया है।

अभीष्ट-सिद्धि

पूरी हुई कामना मेरी ॥
मैं करता था दूर-दूर से,
जिस अभीष्ट की चाह।
वही मुझे है आज मिल गया,
सुख का उठा प्रवाह ॥

पूरी हुई कामना मेरी ॥
प्रभु के हृदय-रूप इस नभ में,
मैंने कितनी बार।
अपने रक्षण-पालन के हित
की थी करुण पुकार ॥

उसे दिशाओं ने सुन सुनकर
कृपा-दृष्टि है फेरी।
वह संकल्प सफल होने में
है न आज कुछ देरी ॥
पूरी हुई कामना मेरी ॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
२० पौष, १९९४)
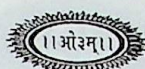
ऋषिः-बृहदुक्थः वामदेव्यः ॥ देवता-इन्द्रः ॥ छन्दः-त्रिष्टुप् ॥ स्वरः-धैवतः ॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार।

देवस्य पश्य काव्यं महित्वा, अद्या ममार स ह्यः समान॥

—ऋक्० १०।५५।५; साम उ० ९।१।७; अथर्व० ९।१०।९

(**युवानं सन्तं**) एक ऐसे नौजवान को (**विधुं**) जोकि विविध काम करनेवाला है और (**समने**) रण में (**बहूनां**) बहुतों को (**दद्राणं**) मार भगानेवाला है उसे (**पलितः**) एक बुड्ढा (**जगार**) निगल जाता है। (**देवस्य**) देव के (**महित्वा**) इस बड़े महत्त्ववाले (**काव्यं**) काव्य को (**पश्य**) देख कि (**ह्यः सम्+आन**) कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था, (**सः**) वही (**अद्य**) आज (**ममार**) मरा पड़ा है।

वृद्ध कालदेव

एक बड़े अचरज की बात।

बड़े बड़े युद्धों में जिसने, बहुतों को था मार भगाया।
पूरा किया विविध कामों को, जिसने अमित शौर्य दिखलाया।
ऐसा एक युवक मदमाता, विजय-गर्व से चलता था,
उसने एक वृद्ध को देखा, जो सबको ही छलता था।
युवक भिड़ गया उससे तात!

बहुत वृद्ध था, श्वेत बाल थे, कितने साल पुराना था?
कुछ अनुमान नहीं हो पाया, भय का कहीं ठिकाना था!
आगे बढ़ा और तब उसने, नौजवान को पकड़ लिया,
पलक मारते में बुड्ढे ने, उसे निगल कर हज़म किया।
क्षण में और आ गई रात॥

मैंने एक काव्य देखा है, उसमें लिखा हुआ है यह-
"कल जीवन का दम भरता था—आज मरा है देखो वह।"
सूर्य चन्द्र को निगल रहा है और लोक को बुड्ढा काल,
समझ गया अब, सब 'अनित्य' है, नित्य सत्य बस वही अकाल॥
मैंने देखा आज प्रभात......।

(**वेदव्रत**, ४ माघ, १९९४)

देवता – इन्द्रः ।

‘ यच्चिद्धि शश्वतामसि
इन्द्र, साधारणस्त्वम्।
तं त्वा वयं हवा महे ।।

ऋक्–८.६५.७

सर्वनियन्ता प्रभु केवल भक्ति से ही प्रसन्न होकर ,कृतार्थ नहीं कर देंगे, यह जानते हुए भी भक्तिविभोर ऋषि प्रभु का आह्वान करता है—

हे इन्द्र ! आप शाश्वत हैं, आपकी सम्पूर्ण व्यवस्था भी शाश्वत नियमों पर आधारित है। किसी भी एक व्यक्ति की–चाहे वह कितना ही भक्त हो–पुकार पर आप सनातन नियमों को शिथिल नहीं कर सकते ।

आपकी दृष्टि में सभी समान हैं। साधारण समान भाव से आपने सबको अपनी शक्ति का अंश दिया है। आपकी दया और करुणा के सभी पात्र हैं। अपने कर्मों के अनुसार सबको आपकी महानिधि का भाग प्राप्त होता है।

फिर भी हे प्रभु ! **‘ यत् चित् हि त्वं शश्वता साधारणःअसि ’** मेरा मन यही स्वीकार करने में आनन्द अनुभव करता है कि आप सबके लिए साधारण होते हुए भी मेरे लिये अपने हृदय में शाश्वत स्नेह भाव रखते हैं ।

मेरे इस भ्रम को स्थिर रखिये । मेरी यह भ्राँति ही मुझे प्यारी है । **‘ तं त्वा वयं हवामहे ’** आप मेरी पुकार सुनें-न-सुनें, मेरा मन इस पुकार से पवित्र होता है, मुझे पुकारने दीजिये ।

तुम मेरे हो

'तुम मेरे हो, तुम मेरे हो' मेरी यही पुकार।

सबके एक तुल्य हृदयेश,
प्रिय हो तुम सबके अविशेष,
फिर भी हे मेरे प्राणेश!
समझ रहा हूँ तुम पर मेरा कुछ विशेष अधिकार।

सबके हो क्यों कर मैं मानूँ,
अपना ही केवल मैं जानूँ,
युग-युग से तुमको पहचानूँ,
हे शाश्वत! हे विश्वनियन्ता! करुणागार अपार!

इतनी-सी क्षमता मैं पाता,
तुमको अपना ही कर पाता,
और किसी का तुमसे नाता,
यदि होता तो रह सकता था कैसे मेरा प्यार?
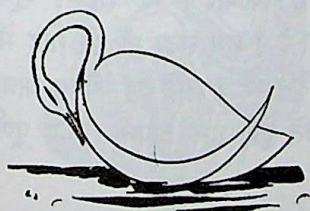
पलकों में प्रिय, तुम्हें छिपाऊँ.
ना देखूँ तुमको, न दिखाऊँ,
बार-बार मैं बलि-बलि जाऊँ,
मेरा है सर्वस्व निछावर,
तुम पर प्राणाधार!

(श्री सत्यकाम,
पौष, १९९४)

देवता — रात्रिः ।

रात्रिमातरुषसे नः परिदेहि,
उषा नो अन्हे परिददातु,
अहस्तुभ्यं विभावरि ।

अथर्व १९.४५.२

थके-हारे मानव को गोद में सुलानेवाली रात्रि में माता का वात्सल्य अनुभव करते हुए वेद का भावनाप्रिय कवि निवेदन करता है –

हे **'रात्रि मातः उषसे नः परिदेहि'** हे रात माँ, तेरी गोद में विश्राम करने के बाद जब हम आँखें खोलें, तो हमें उसी ममता के साथ उषा के आँचल में दे देना, जिस ममता से तूने हमें अपराह्न में अपनी गोद में लिया था।

सूर्य की प्रथम किरण-स्पर्श से चैतन्यता पाने के बाद, **'उषा नो अन्हे परिददातु'** उषा हमें मध्याह्न के सूर्य को, कर्मक्षेत्र में विकास पाने के लिए समर्पित कर दे ।

और जब कर्मक्षेत्र के संघर्षों से थककर हमारा शरीर विश्रांति की कामना करे, तो **'अहस्तुभ्यं विभावरि'** हे विभावरि ! माँ रात्रि ! सूर्य से कहना कि वह हमें तेरे पालने में सुला दे । हम सदा माँ की गोद में झूलते रहें, सभी देवता हमें माँ का प्यार देते रहें । तभी यह जीवन-यात्रा सुखद होगी । विश्वमाता की गोद में झूलते हुए हम अपनी यात्रा पूर्ण करें ।

रात्रि माँ !

रात्रि माँ ममतामयी आ।
गोद में मुझको उठा,
लोरियाँ मुझको सुना,
पालने में फिर झुला।
रात्रि माँ ममतामयी आ।

सुबह जब आये उषा, मैं
सूर्य से नवप्राण पाऊँ।
कर्म में मैं जूझ जाऊँ।
प्रखर यश अपना बढ़ाऊँ
शिखर के ऊपर चढ़ा।

रात्रि माँ ममतामयी आ।
गोद में मुझको उठा।
हे विभावरि माँ थकूँ जब,

तू मुझे देना शरण
गोद में ही जन्म मेरा,
गोद में तेरी मरण।

हर समय पाता रहूँ
आशीस तेरे प्यार की
रात्रि माँ ममतामयी आ।
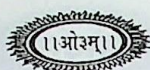
ऋषिः—गोपथः ।। देवता—रात्रिः ।। छन्दः—त्रिपदा विराट् अनुष्टुप्।।
स्वरः—गान्धारः ।।

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि।
उषा नो अह्ने परिददातु, अह स्तुभ्यं विभावरि!!

—अथर्व० १९।४८।२

(मातः रात्रि) अयि माँ रात्रि! **(नः)** हमको **(उषसे)** उषा देवी की गोद में **(परि देहि)** भली प्रकार दे आ। **(उषा)** वह उषा देवी **(नः)** हमें **(अह्ने)** दिवस के लिए **(परि ददातु)** भली प्रकार [सँभालकर] दे-देवे और फिर **(अहः)** यह दिवस, **(विभावरि)** अयि अन्तरोज्ज्वल रात्रि मातः! **(तुभ्यं)** तुम्हारे अङ्क में [दे-देवे]।

माँ रात्रि!

मैं सो रहा तू जाग माँ!!

आज इतना खेल खेला, कर लिया काफ़ी झमेला
अब न मेरे मान के ये, हूँ घिरा इनसे अकेला
कुछ न मेरा कर सकें ये, छेड़ चट वह राग माँ!
मैं सो रहा तू जाग माँ!!

देख मैं चिर शान्ति पाऊँ, भूल सब निज भूल जाऊँ
शक्तियाँ खोई पुनः पा, प्रात मुद मंगल मनाऊँ
हो मुझे जिससे कभी जग-खेल से न विराग माँ!
मैं सो रहा तू जाग माँ!!

फिर खिलौना उषा का दे, गोद में रवि के बिठा के,
तू चली जाना शयन-हित और आना दिन बिता के,
अंक में जिससे तुम्हारे आ सकूँ फिर भाग, माँ!
मैं सो रहा तू जाग माँ!!

(श्री महावीरप्रसाद मिश्र 'निरीह',
२० पौष, १९९४)
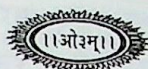
ऋषिः—**अमहीयुः** (पृथिवी की नहीं, द्युलोक की उड़ान लेनेवाला)॥
देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अपघ्नन् पवते मृधः, अप सोमो अराव्णः।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥

—साम पूर्वार्चिक ६।२।१४ ; उत्तरार्चिक ५।१।७; ऋ० ९।६१।२५

(**इन्द्रस्य**) इन्द्र के (**निष्कृतम्**) सुसंस्कृत गृह को (**गच्छन्**) जाता हुआ (**सोमः**) सन्त (**मृधः**) हिंसा-वृत्तियों को (**अपघ्नन्**) हटाता हुआ, (**अराव्णः**) सब प्रकार की कृपणताओं को (**अपघ्नन्**) दूर करता हुआ (**पवते**) बहता है—पवित्रता के प्रवाह लाता है।

इन्द्र-निकेतन

कल ही कल में गया यौवन बीत, अभी तुम फेर ही में कल के,
न अँधेरा तुम्हारे तले का मिटा, तुम दीप समान बुझे जल के,
इतना भी नहीं तुम सीख सके, हल प्रश्न हुआ कब है टल के,
छलना हो छलो किसी दूसरे को, क्या मिलेगा तुम्हें निज को छल के॥
परवाह की बाहर की जितनी उतनी करते यदि अन्दर की,
तुम दूषित और असुन्दर में भी छटा लखते शिव.सुन्दर की,
चिर शान्ति की खोज में ख़ाक न छानते यों फिरते गिरि-कन्दर की,
अपनी लघु शून्यता में तुम पाते असीम समृद्धि पुरन्दर की॥
इस दिव्य सुसंस्कृत इन्द्र-निकेतन हेतु नहीं तप में दहना,
कृपणों के समान न पुण्य-हिरण्य के संचय ही में लगे रहना,
इसके हित मार्ग सहिष्णुता और उदारता का तुमको गहना,
तज के सब हिंसक वृत्तियों को बस प्रेम-प्रवाह ही में बहना॥
वह प्रेम का सोम-सरोवर छोड़ भला क्यों पड़े उस पार की चाह में,
रहते किस हेतु किनारे-किनारे ही क्यों घुस जाते नहीं हो अथाह में,
फिर धर्म-अधर्म या जीवन-मृत्यु की क्यों तुम व्यर्थ पड़े परवाह में,
बस डूबके, डूबके देखो छिपा क्या सुरत्न है प्रेम-प्रवाह में॥
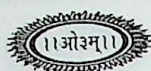
ऋषिः—**कश्यपः (द्रष्टा)** ।। देवता—**पवमानः सोमः** ।। छन्दः—**गायत्री** ।।
स्वरः—**षड्जः** ।।

इन्द्रोयेन्दो मरुत्वते, पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य योनिमासदम् ।। —साम पूर्वार्चिक ५।९।६

(इन्दो) ऐ जगत् को सरसानेवाले स्नेह-रस के सुधाकर मुझ **(मरुत्वते)** प्राणोंवाले **(इन्द्राय)** मुझ इन्द्रियोंवाले देहधारी के लिए **(मधुमत्तमः)** अत्यन्त मधुर होकर **(पवस्व)** पवित्रता का प्रवाह चला। मैं **(अर्कस्य)** अर्चना के **(योनिम्)** मन्दिर में **(आ सदम्)** प्रवेश कर रहा हूँ।

अर्चना के मन्दिर में

प्राण सबल हैं, स्वस्थ देह है, अंग अंग में स्फूर्ति।
हृदय विकल है, नहीं स्नेह है, जड़-सी मेरी मूर्त्ति।।
स्वस्थ अवस्था में भी जाता ही है दिन तो बीत,
और रोग की पीड़ा में भी होती रात व्यतीत।
समय बिताया किसी-किसी ने दुख में आह! पुकार,
और किसी ने हँसी-खेल में बिता दिये दिन चार।
नीरस दोनों ही की स्मृति है, मुझे शक्ति-अभिमान-
तो होता है किन्तु कहाँ से आए उसमें जान?
देता हूँ मैं उठा गर्व से अपनी गर्दन और
वह जाती है ऐंठ, किन्तु है रस का आश्रय और।
नहीं ऐंठ में रस, रस तो है सदा लचक ही में,
हाँ, जीवन भी इसी लचक में, विजय विनय ही में।।
प्रभो! मुझे कोई ऐसा दो लचकीला आनन्द,
कोई स्थायी स्थिर रस मुझको दो जीवन स्वच्छन्द।
सुना, तुम्हारी कृपा-कोर में है स्थायी रस एक,
जिसमें अस्थिरता का कोई नहीं कभी उद्रेक।।
कृपा-कोर की ज्योत्स्ना सारे जग को करके व्यास,
चाँद और तारों में मिलकर फैल रही, हे आप्त!

बहा रही है यह आकाशी-गङ्गा एकज प्रेम,
जिस में पड़कर पूरे होते सारे योग-क्षेम॥
मेरी हृदय-कुमुदिनी के हे चाँद! तुम्हारी स्नेहमयी,
किरणों ने ही स्नेह-रसों में गूँध-गूँध कर नित्य नयी,
इस सम्पूर्ण प्रकृति की रचना को है बना दिया रसमय,
अणु-अणु पृथक् भले रह जाता, अगर न होता आर्द्र हृदय-
देव तुम्हारा; तरी न आती इसमें, पिण्ड नहीं बनते,
ब्रह्माण्डों की सृष्टि न होती, व्योम-वितान नहीं तनते।
सृष्ट जगत् के संजीवन-रस, कृपा-कोर हो एक हरे!
मेरी भी तो ओर; समझ मैं आज गया हूँ हेतु हरे!!
क्यों यह मेरा ताप? तुम्हारी करुणा से मैं क्योंकि विमुख।
प्रभो! तुम्हारी अनुकम्पा से वञ्चित इसीलिये यह दुख।
स्वास्थ्य, स्फूर्ति, हैं मेरे अन्दर, पर दोनों का सार,
स्नेह तुम्हारा मेरी आँखों से है दूर कहीं उस पार॥
हे प्राणों के प्राण! अनुप्राणित कर दो यह मेरे प्राण,
अपनी स्नेह-सुधा बरसाकर कर लो मेरा त्राण।
अपनी संजीवनी-कला से कर दो जीवन उज्जीवित,
पूजा-सुमन इन्द्रियाँ मेरी बनकर करें तुम्हें अर्चित॥
मेरे प्राण तुम्हारी पूजा के नैवेद्य बनें, हे देव!
मेरा नूतन जन्म आज हो बनूँ देव मैं अब स्वयमेव!
जीवन-जन्म अर्चना का हो, पूजा-जीवन का समुदय,
मैं झुक जाऊँ, नत हो जाऊँ तन, मन, धन, चरणों में लय॥
देव! तुम्हें अत्यन्त विनय से अर्पण करने चला अनेक,
सिद्धि, समर्पण अर्चन में है, अर्पण-अर्चन दोनों एक।
इन्दु! प्राणपति इन्द्र बना मैं, मधुर और सुचि तू, बह चल।
आज अर्चना के मन्दिर में करता हूँ प्रवेश, बह चल॥

(वेदव्रत,
४ माघ, १९९४)
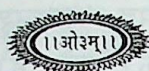
ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः, श्रुतबन्धुः विप्रबन्धुश्च**॥ देवता—**इन्द्रः (विश्वे देवाः)**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञात् इन्द्र सोमिनः।
माऽन्तः स्थुर्नो अरातयः॥

—ऋक्० १०।५७।१; अथर्व० १३।१।५९

(इन्द्र) हे परमेश्वर! **(वयं)** हम **(पथो मा प्रगाम)** सन्मार्ग को छोड़कर मत चलें, **(सोमिनः)** ऐश्वर्ययुक्त होते हुए **(वयं यज्ञात् मा प्रगाम)** हम यज्ञ को छोड़कर मत चलें। **(अरातयः)** अदानभाव **(नः अन्तः मा स्थुः)** हमारे अन्दर न ठहरें।

याचना

मुझको न इष्ट कोई ऐश्वर्य-निकेतन,
रहने दो मुझको यों ही दीन अकिंचन।
बस इतना करो स्वावलम्बी कि तुम्हारे,
मैं चढ़ा सकूँ चरणों पर अश्रु-रजत-धन॥

मैं नहीं चाहता मेरे पथ में अड़चन
रह जाए कोई नहीं, मिटें सब रिपुजन।
कुछ अधिक न मेरी माँग, प्रार्थना केवल,
है यही कि होऊँ स्वयं न अपना बन्धन॥

यदि मैं ही स्वयं न होता अपना दुश्मन,
तो मेरा क्या कर पाता जग वैरी बन।
इस आत्मघात से मुझको, नाथ! बचाओ
मुझ पर ही छोड़ो अपना आज सुदर्शन॥

मैं नहीं चाहता पग-पग पर अभिनन्दन,
नेताओं के सम मुझको भी दें जन-जन।
मैं नहीं चाहता बनना मार्ग-प्रदर्शक,
पर्याप्त मुझे बस चलना सुपथ पथिक बन॥

मैं नहीं चाहता जग के सारे दर्शन,
सत् पथ कह मेरे पथ का करें समर्थन।
हाँ, दृढ़ विश्वास मुझे अपने पथ पर हो,
मैं चाह रहा बस ऐसा आत्म-प्रवंचन॥

मैं नहीं चाहता पथ-पथ का अवलोकन
कर, सुपथ कुपथ का निर्णय करूँ प्रतिक्षण।
किस तरह पथिक का दोष मढ़ूँ पथ के सिर
मैं चाह रहा बस करना आत्म-निरीक्षण॥

मैं नहीं माँगता सुदृष्टि-वर्धक अंजन,
मेरे दृग पर डालो ऐसा अवगुण्ठन।
मैं सुपथ कुपथ के बीच भेद सब भूलूँ,
सन्मार्ग-प्रदर्शक मुझे यही अन्धापन॥

जब सभी देव-पथ, तब क्या मार्ग-विवेचन,
है सुपथ कुपथ का झगड़ा ही नास्तिकपन।
पर्याप्त मुझे यह बोध कि जग मंगलमय,
मैं नहीं माँगता तुमसे कुछ इन्द्रासन॥

अपने अदान भावों का तोड़ूँ बन्धन,
ऐश्वर्य-उपार्जन संग यज्ञ-आराधन
कर, अर्थ-मोक्ष में सामंजस्य दिखा दूँ,
या जड़ के द्वारा कैसे मिलता चेतन॥

तुम छिपे रहो पट में यह मुझे न अड़चन,
बस कर लेने दो तन्मय हो आराधन॥
इस तरह कि निज को क्या तुमको भी भूलूँ,
मैं नहीं चाहता देव! तुम्हारा दर्शन॥

(श्री जगन्नाथप्रसाद,
२६ पौष, १९९४)
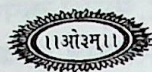
ऋषि:—**मेध्यातिथिप्रियमेधौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

न घेमन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥

—ऋक्० ८।२।१७; साम उ० १।२।३;
—अथर्व० २०।१४।२

(**वज्रिन्**) हे वज्रवाले! मैं (**अपसः**) कर्म के (**नविष्टौ**) प्रारम्भ में (**अन्यत् घा ईम्**) अन्य किसी की भी (**न आपपन**) नहीं स्तुति करता (**तव इत् उ**) केवल तेरी ही (**स्तोमं**) स्तुति करना (**चिकेत**) जानता हूँ।

अथ

हे मेरे क्षण-क्षण के मंगल! मुझको तेरा एक सहारा.....

(१)

'आदि' करूँ प्रत्येक कार्य का,
लेकर पावन नाम।
मुझको तेरी ही स्तुति प्यारी,
औरों से क्या काम?
जान गया हूँ तेरी ही तो,
दासी है सब शक्ति।
सभी कार्य पूरे करती है,
देव! भक्त की भक्ति॥
तेरे हाथों वज्र, महाबल!
जिसने सब असुरों को मारा।
हे मेरे क्षण-क्षण के मंगल!
मुझको तेरा एक सहारा॥

(२)

देख चुका हूँ बहुत आज तक,
अपने बल पर खेल।
किन्तु देव! सब काम रुक गया,
टूट गया सब मेल।
हार मान कर जब आ बैठा,
तब देखी यह रीत।
कार्य-सिद्धि सब स्वयं हो गई,
ऐसी आशातीत॥
अन्दर देखा, तूने प्रेमल!
बाँह पकड़कर मुझे उबारा,
हे मेरे क्षण-क्षण के मंगल!
मुझको तेरा एक सहारा॥

(३)

क़िसी और ने क्या करना था,
सब तेरे कठपुतले।
किसी और ने क्या कहना था,
सब बच्चों-से तुतले।
किसी और के आगे झुकना,
नहीं मुझे स्वीकार।
कहाँ अमंगल, कहाँ पराजय?
कहाँ भीति या भार?
अब तो पूर्ण समर्पण केवल,
आदि अन्त में तू ही प्यारा।
हे मेरे क्षण-क्षण के मंगल!
मुझको तेरा एक सहारा॥

(वेदव्रत,
४ माघ, १९९४)

देवता – इन्द्रः ।

न घेमन्यत् आपपन, वज्रिन् अपसौ न विष्टौ
तवेदु स्तोमं चिकेत ।।

ऋक् ८–२. १७ ।।

हे **'वज्रिन्'** सर्व समर्थ प्रभु ! **'न अन्यत् आपपन्'** मैं आपके अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं जानता । जो करता हूँ, आपका नाम लेकर करता हूँ । आपके लिए करता हूँ । **'अपसौ न विष्टौ'** जिस कर्म के प्रारम्भ में **'तव इत् उस्तोमं'** आपका ही स्मरण करता हूँ, वही सुख देता है । जो काम मैं अपनी प्रभुता के लिए करता हूँ, वही दुःख का कारण बन जाता है ।

किसी भी विशेष लाभ की आशा से प्रारम्भ किये कार्य से मुझे पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती । क्योंकि आकांक्षा का रूप बहुत प्रवंचनात्मक है । उससे मैं ठगा जाता हूँ, अतृप्त रह जाता हूँ । यह अतृप्ति मन में पराजय की दुर्भावना भर देती है । जीवन में मैं थकाहारा अनुभव करता हूँ ।

इसलिए अब आपके प्रति समर्पित होकर ही मैं प्रत्येक कार्य प्रारम्भ करूँगा ।
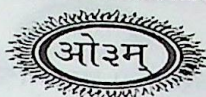
समर्पित

आदि करूँ सब कर्मों का मैं,
लेकर तेरा नाम सदा।

अपने संकल्पों से पहले,
तेरा नाम लिया मैंने
तेरी अनुमति पाने को ही,
तेरा स्मरण किया मैंने।

जीत-हार होती जो होवे
मन में यह संतोष रहे।
तूने जो आदेश दिया प्रभु
वही किया, परितोष रहे।

तुझे समर्पित रही जिन्दगी
स्वयं सदा निष्काम रहा।
रहा न मेरा कुछ भी अपना
तेरा पावन नाम रहा।

आदि करूँ सब कर्मों का मैं
लेकर तेरा नाम सदा।

।।ओ३म्।।
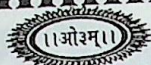
ऋषिः-वसिष्ठः ॥ देवता-वरुणः ॥ छन्दः-निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः-धैवतः ॥

पृच्छे तदेनो वरुण! दिदृक्षुः, उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहु-'अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते'॥

—ऋक्० ७।८६।३

(वरुण) हे पापनिवारक देव! **(तत् एनः पृच्छे)** मैं उस पाप को तुझसे पूछता हूँ [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता]; **(दिदृक्षुः)** मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूँ। **(विपृच्छं)** इस विषय में विविध प्रश्न पूछने के लिए मैं **(चिकितुषः)** विद्वानों के **(उपो एमि)** पास जाता हूँ, परन्तु **(कवयः चित्)** वे सब ज्ञानी पुरुष भी **(समानं इत् मे आहुः)** मुझे एक ही उत्तर देते हैं—एक ही बात कहते हैं कि—"**(अयं वरुणः ह)** निश्चय से यह वरुणदेव ही **(तुभ्यं हृणीते)** तुझसे अप्रसन्न है, उसे प्रसन्न कर।"

समाधान

(१)

दिन बीत गए, बीती रातें।
गर्मी बीती, फिर बरसातें।
मैंने क्या-क्या न किया अब तक?
पर हुईं विफल-सी सब बातें।
मैं आया सारा विश्व छान,
सब इधर-उधर का किया पान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(२)

प्रत्येक तपस्या, व्रतपालन,
जो भी कुछ कहीं सुना साधन।
सानन्द सभी मैंने पाले—
कि कभी तो होगा देव-मिलन।
अब अंग-अंग में है थकान,
पर हरे! तुम्हारा यह विधान?
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(३)

मैं उसी चाल से बहता हूँ,
पर-सपने ही में रहता हूँ।
जो तुम्हें छू रहे यह जाना,
उनसे मन की सब कहता हूँ।
मैंने उन सब का किया मान,
जिन को जग ज्ञानी रहा मान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(४)

फिर उसी मोह में सना रहा,
मैं कब से सब को मना रहा।
सबने कुछ पता दिया तो, पर
यह प्रश्न प्रश्न ही बना रहा।
मैं इन से क्या लूँ और ज्ञान,
सब कवियों का उत्तर समान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(५)

सब मुझे यही कह जाते हैं,
"ये वरुण न ऐसे आते हैं-
रे पगले! तुझ पर हृष्ट नहीं
वे तुझे मलिन ही पाते हैं।
कर और साधना और ध्यान,
तब होगा तेरा शुचि विहान।"
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(६)

हाँ ठीक, यही तो संभव है।
जिससे न वत्स का उद्भव है।
अब वृथा प्रश्न का वैसा क्रम,
छिपने में छिपा पराभव है।
हे देव! आज मैं गया जान,
अब तुम्हीं कहो करुणानिधान!
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(७)

मैं चाह रहा हूँ वह दर्शन,
जिसको कर अपना दूँ अर्पन।
पर कौन पाप है रोक रहा,
यह नहीं पूर्ण होता अर्चन।
यह किस विकार का है उफान,
जिसका न हो रहा मुझे भान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(८)

अनजाने कैसे प्रतीकार
कर पाऊँगा हे तुलाधार!
तू तोल-तोल पर मुझे बता
मुझको न इष्ट अब और भार।
हे पावन! हे प्रिय! हे महान्!
दो खाली करके अतुल दान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(९)

या तो बतला दो मुझे पाप,
अथवा तुम आओ स्वयं आप।
अब नहीं चलेगी और बात,
मैं तोड़ रहा हूँ सभी शाप।
अब क्यों विलम्ब? कर दो प्रदान,
अवलम्ब शक्तिमय, जगत्प्राण!
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(१०)

अब पाश छोड़ आओ, झूलें,
अब नवल रश्मियों से फूलें,
तुम बनो सूर्य मैं बनूँ कमल,
बस इसी योग में हम भूलें।
हे देव! तुम्हीं में एक तान
होकर मैं गाऊँ दिव्य गान।
हे पापनिवारक वरुणदेव!
अब तुम्हीं करो यह समाधान॥

(वेदव्रत,
२६ पौष, १९९४)
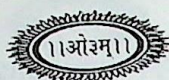
ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा, मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो, रथे न पादमादधुः ॥

—ऋक्० ७।३२।२; साम उत्तरार्चिक ८।२।६।२

(**मधौ न**) जैसे मधु पर (**मक्षः**) मधुमक्षिकाएँ (**आसते**) बैठती हैं वैसे (**इमे**) ये (**ते**) तेरे (**ब्रह्मकृतः**) ज्ञाननिष्पादन करनेवाले भक्त लोग (**हि**) निश्चय से (**सुते**) प्रत्येक सुत सोम पर, प्रत्येक ज्ञान-निष्पादन के स्थल पर (**सचा**) समवेत होकर, तन्मग्न होकर बैठते हैं और ये (**वसूयवः**) वसु व अभीष्ट फल चाहनेवाले (**जरितारः**) स्तोता, भक्त लोग (**इन्द्रे**) परमेश्वर में (**कामं**) अपनी इच्छा को, कामनामात्र को (**आदधुः**) रख देते हैं, समर्पित कर देते हैं, (**रथे न**) जैसे रथ में (**पादं**) पैर को रख देते हैं [और बैठ जाते हैं]।

एवमस्तु

मक्खी को था कौन क्लेश, जो
उड़ी छोड़ कर छत्ता?

वह देखो अब ध्यान-मग्न-सी
खुली कली में प्रेम-लग्न-सी
बाहर की सुधि भूल भग्न-सी
लगी ढूँढने पत्ता।

लो, मधु उसको यहाँ मिल गया,
एक कुसुम का हृदय खिल गया,
मक्खी का पग वहीं सिल गया,
मद की अरे! इयत्ता।

हैं इधर फूल, हैं उधर फूल,
ये सोम-सरित् के विविध कूल,
रस-पान हो रहा झूल-झूल,
मद में बनी प्रमत्ता।

अब एक नहीं, पूरा समाज,
जुट कर आ बैठा यहाँ आज,
तन्मयता में सब गई लाज,
प्रकट हुई रसवत्ता।

हे देव! मधुर! प्रिय! मैं भी तो,
हूँ भूखी मधु की, मत रीतो,
हारी—हे रस घन! तुम जीतो,
मैं केवल अनुरक्ता।

मुझको न इष्ट कुछ और वस्तु,
मैं पिऊँ पिऊँ रस—एवमस्तु,
कह तुम भी दो प्रभु! बस यथास्तु।
बनो अन्न, मैं अत्ता।

हो जहाँ ज्ञान-रस का अभिषव,
हैं जहाँ तुम्हारे रथ हे भव!
मेरे पग वहीं उठें अभिनव।
देव! बनोगे क्षत्ता?

हो जहाँ कहीं रस का प्रवाह,
बस वहीं हमारी खुले राह।
है नहीं और कुछ मुझे चाह,
एक बात अलबत्ता—

वह यही कि मेरा यह क्षण-क्षण,
यह सभी कामना सारे प्रण,
हों केवल तुम्हें सखे! अर्पण,
खो दूँ अपनी सत्ता॥

(वेदव्रत,
२५ पौष, १९९४)

देवता – पवमान सोमः ।

अनुप्रत्नास आयवः, पदं नवीयो अक्रमुः-
रुचे जनन्त सूर्यम् ।

साम पूर्वार्चिक ६.२.६, ऋग्वेद ९.२३.२ ॥

प्रत्येक मनुष्य के मौलिक कृतित्व पर पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए वेद की ऋचा आदेश देती है कि अपने मौलिक सृजन पर अटल विश्वास रखो। भगवान ने प्रत्येक प्राणी को नवीन सृजन की क्षमता दी है।

'**अनुप्रत्नास आयवः**' अनुकरण प्रिय मनुष्य भौतिक सृजन नहीं करते। अपनी क्षमता पर आस्था रखकर '**नवीयो पदं अक्रमुः**' नवीन मार्ग अपनानेवाले ही नवीन प्रतिभा से नूतन निर्माण करते हैं।

सृजन आत्मा के प्रकाश में होता है। बाह्य प्रकाश की अपेक्षा न करो। पुरानी प्रेरणाओं के दीप मंद हो गये हों, तो '**रुचे जनन्त सूर्यम्**' अपनी रुचि का सूर्य स्वयं बना लो। असीम प्रेरणाओं के स्रोत अपने अंतः सूर्य को प्रदीप्त करो। अंतरात्मा की आदित्य रश्मियाँ ही प्राणवंत कला का पथ उज्ज्वल करती हैं।
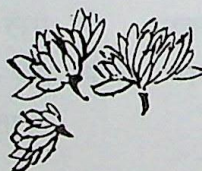
अन्तः सूर्य
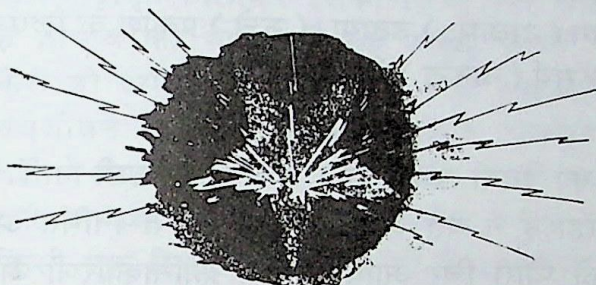
मानव दिव्य शक्ति के स्वामी, बनो अग्रणी नहिं अनुगामी,
अपने ही अनुभव के बल पर, नये सृजन-आधार बनाओ।
अपने सूर्य आप बन जाओ।

निर्माता तुम हो निज पथ के, स्वयं विधाता हो विधि-सुधि के,
हैं अनन्त सबकी क्षमताएँ अन्तर में विश्वास जगाओ।
अपने सूर्य आप बन जाओ।

चलो न मिटते पद-चिह्नों पर, रुको न बाधाओं–विघ्नों पर,
नित्य नयी आलोक रश्मि से, अपनी प्रतिभा स्वयं जगाओ।
अपने सूर्य आप बन जाओ।
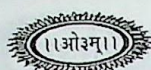
ऋषिः—निध्रुविः (निश्चित ध्रुव)॥ देवता—पवमानः सोमः॥
छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अनुप्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः।

रुचे जनन्त सूर्यम्॥ —साम पूर्वार्चिक ६।२।६; ऋ० ९।२३।२

(**अनु प्रत्नासः आयवः**) पुरानी लकीर के फ़कीरों ने (**नवीयः-पदं**) नया पग (**अक्रमुः**) उठाया। (**रुचे**) प्रकाश के लिए उन्होंने नया (**सूर्यं**) सूर्य (**जनन्त**) पैदा कर लिया।

क्रान्ति

१. जिस का भावी प्रगतिशील उन्नति से कभी नहीं संसर्ग,
चाह रहा हूँ न वह आत्म-सन्तुष्ट शान्ति-निर्मित अपवर्ग।
मुझ को प्यारी चिर आविष्कारिणी क्रान्तिकारिणी अशान्ति,
वही जगत-जंजाल जिसे सब नरक समझते मेरा स्वर्ग॥

२. जो अनादि से बैठे हैं अब तक लकीर के बने फ़क़ीर,
नहीं चाहता हूँ उन देवों का निर्भ्रान्त स्वर्ग-प्राचीर।
मुझ को प्यारी शंका जिस पर आश्रित कला और साहित्य,
नहीं सत्य पर सुन्दर की है प्रेमी मेरी भ्रान्ति-कुटीर॥

३. लत का दास न बनना मुझको, मुझे एक-रसता है भार,
नव-रस क्या, है कोटि रसों का इष्ट मुझे जग में संचार।
सुख-दुख, अमृत-गरल, रण-हिंसा, प्रेम-द्वेष या धर्म-अधर्म,
सब के लिए समान खुला है मेरी सहिष्णुता का द्वार॥

४. हैं अछूत पापों के ऊपर देवालय में शत प्रतिबन्ध,
पाप-पुण्य दोनों से मुझको एक समान किन्तु संबन्ध,
देवालय के यज्ञ पुण्य के पक्षपात में ही तल्लीन,
मेरे जग में उठती है निष्पक्ष न्याय की यज्ञ-सुगन्ध॥

५. देवों को सुख-भोग इष्ट है, मुझको किन्तु कर्म से प्यार,
और न वे सामान्य कर्म जिनका है बस स्वभाव आधार।
किन्तु कर्म वे, जिनसे पूरे होते आदर्शों के स्वप्न,
जिनमें पीड़ाओं के उत्सव, जिन्हें हार भी है उपहार॥

६. नहीं रुकेगी पा अप्राप्त स्वर्ग भी मेरी गति गम्भीर,
कहीं स्वर्ग से आगे स्थित है मेरी उज्ज्वल क्रान्ति-कुटीर,
कहीं चरम सीमा है मेरी उन्नति की—अक्षय आनन्द।
मेरी तृष्णा की सुतृप्ति कुछ खेल नहीं, है टेढ़ी खीर॥

७. भोले-भाले देवगणों के तुल्य न भोली मेरी प्यास,
आई नहीं खेलने जग में कच्ची गोली मेरी प्यास,
केवल अमृत पिलाकर इसको विष्णु नहीं सकते हैं टाल,
है अभाव की भाव भरी यह अक्षय झोली मेरी प्यास॥

८. कैसे हो अमरत्व सुरों के सम, फिर मुझ को अंगीकार।
नवजीवन के आगे मुझको संजीवन बिलकुल निःसार।
वह तो कहो, मनुज की इच्छा विधि ने की पहले ही पूर्ण,
उसे अन्यथा स्वयं मृत्यु का करना पड़ता आविष्कार॥

९. किसी एक स्थिति को उन्नति की कैसे अन्तिम सीमा मान,
बैठूँ मैं, चाहे वह अपना हो या हो दैवीय विधान।
कैसे फिर मुझको हो सकती है अंगीकृत मुक्ति अनन्त,
कैसे आवागमन छोड़, कर दूँ समाप्त अपना आख्यान॥

१०. अपना-अपना दृष्टिकोण है, अपना-अपना ज्ञान-विवेक,
तृप्ति अभीष्ट सुरों को, मेरी माँगों की अतृप्ति है टेक।
देवों पर छा गया स्वर्ग का मोह, अप्सराओं का जाल,
इस अतृप्ति ने किन्तु बिगाड़े और बनाए स्वर्ग अनेक॥

११. गाने दो देवों को सुख के मद में जीर्ण स्वर्ग का गीत,
अपने से भी तुष्ट न होगा आत्म-विवेचक मनुज विनीत।
सर्वमुखी प्रतिभा वाले को, पूर्ण भाव का साधन इष्ट,
केवल सात्त्विक देव नहीं, मुझ को बनना है त्रिगुणातीत॥

१२. बार-बार पतझड़ में परिणत होता इसीलिये मधुमास,
इस अतृप्ति को नहीं प्रकृति का भाता जड़ता-ग्रस्त विकास।
यह अतृप्ति ही की लीला है, यह अतृप्ति ही का है खेल,
स्वर्ग वहीं का वहीं रह गया, बदल गया जग का इतिहास॥

१३. तृप्ति स्वार्थ में डूबी बैठी, पर अतृप्ति को नहीं विराम,
तुम्हीं बताओ इन दोनों में कौन सकाम कौन निष्काम?
मैं तो कहता यदि अतृप्ति देती न विधाता को सहयोग,
'अस्ति' नास्ति के सम हो जाती और प्रलय-सम सृष्टि ललाम॥

१४. प्रलय हो गई अगर सो गया इस अतृप्ति का भ्रमित मिलिन्द,
सृष्टि हो गई सत् युग आया विकसा जब अतृप्ति-अरविन्द।
इस अतृप्ति के पथ असीम पर बैठ गया जब थकित मनुष्य,
तब सच्चा अध्यात्म मिट गया, बने रूढ़ि-पूजक जनवृन्द॥

१५. तुम कहते हो क्रान्ति कर रही क्यों अतृप्ति मेरी अविराम,
पूर्ण सृष्टि है, पूर्ण विधाता, फिर संशोधन का क्या काम?
नास्तिकता या पाप यही है जो बस देख दोष ही दोष,
नित अल्पज्ञ मनुज करता सर्वज्ञ विधाता को बदनाम॥

१६. सभी पिताओं को होता यह इष्ट कि उनकी हर सन्तान,
उन से भी कुछ अधिक कीर्ति-यश पाए और करे उत्थान।
क्या आदर्श पिता इतना संकुचित कि निज पुत्रों के हेतु,
नहीं करेगा अपने से कुछ अधिक कीर्तिदायक सुविधान॥

१७. सभी पिता अपने पुत्रों को सौंपा करते अपना भार,
अपने परम पिता की वसुधा का मानव भी है कर्त्तार।
पुत्र पिता के सम हो जाए इसमें कौन भला अनरीति,
पुत्र पिता से भी बढ़ जाए इसमें कौन भला अपकार॥

१८. क्रान्ति मनुज का अपरिहार्य ईश्वर-कृत जन्मसिद्ध अधिकार,
जन्मसिद्ध अधिकार न बस है क्रान्ति मनुष्य-धर्म का सार।
इसी क्रान्ति के आविष्कारों पर आश्रित जग का सुविकास,
इसी क्रान्ति से सदा नया का नया बना रहता संसार॥

१९. यदि दैवीय चमत्कृति से काँटों में भी लग जाते फूल,
विष को शोध मनुज-प्रतिभा भी करती अमृत-तुल्य अनुकूल।
यदि दैवीय शक्ति कर सकती पल ही में राजा को रंक,
बन सकती अनुभूति आन में मेरी पतिता अबला भूल॥

२०. माना, सृष्टि रची विधना ने किन्तु मनुज ने भी वह काम
करके दिखा दिया, जिससे उसका विधि से कुछ गौण न नाम।
वस्तु-वस्तु का रूप बदलकर उसने रच दी सृष्टि नवीन,
बना निरर्थक को सार्थक, कर दिया विकृति को छवि अभिराम॥

२१. प्रभु में और भक्त मानव में चिर से होती आई होड़,
जब-जब उन्हें मनुज ने देखा, लिया उन्होंने तब मुख मोड़।
यद्यपि सृष्टि-रहस्योद्घाटन किया मनुज ने शत-शतवार,
किन्तु बड़े से बड़े सत्य को दिया रूढ़ि ने तोड़-मरोड़॥

२२. लाख रूढ़ियों के परदों में सतत जा छिपे कृपानिधान,
किन्तु सजग नर की अतृप्ति ने लिया उन्हें तब भी पहिचान।
इस झगड़े में मानव जीता, सिद्धि-विधाता ही को और
समय-समय पर नर को करनी पड़ीं उच्च सिद्धियाँ प्रदान॥

२३. विधि का प्रतिद्वन्द्वी बनने में ही है आस्तिकता का मर्म,
सच्ची ईश्वर-भक्ति यही है और यही सच्चा सत्कर्म।
चिर अतृप्ति की निठुर नियति से रण ही में जीवन का सार,
मर-मर कर भी निज अतृप्ति की रक्षा करना मेरा धर्म॥

२४. परम्परा का पथ होने ही से होता पथ नहीं पुनीत,
चाहे वह विधिकृत हो या हो किसी ग्रन्थ द्वारा निर्णीत।
मेरे मानव-जीवन को यह बात नहीं हो सकती सह्य,
मेरे वर्तमान के ऊपर शासक हो निर्जीव अतीत॥

२५. नहीं द्वेष उर को अतीत से, इसको पारतन्त्र्य से द्वेष,
सूर्य न इसका मार्गप्रदर्शक, यह है अपना स्वयं दिनेश।
नहीं न्याय-अन्याय तथा उन्नति-अवनति की तो कुछ बात,
अपना भाग्य-विधाता बनने का इसमें है प्रश्न विशेष॥

२६. यही क्रान्तिकारी अन्तःरवि करता नवयुग का निर्माण,
नहीं आज से, किन्तु सनातन से यह अखिल विश्व का प्राण।
नहीं क्रान्ति-हित क्रान्ति, किन्तु इसकी अतृप्ति का यह सन्देश,
आदि-अन्त में भेद न कोई, 'परा नवं' इत्येव पुराण॥

२७. क्रान्तिशील यद्यपि अतृप्ति मेरी बस दुहराती इतिहास,
पर पुनरुक्ति-दोष के बदले, इसमें मञ्जु विरोधाभास।
यह आपेक्षिक उन्नति में रत, इसे न आदि-अन्त का मोह,
भव-सागर की मध्य तरंगों पर इसका रमणीय निवास॥

(श्री जगन्नाथ प्रसाद, २६ पौष, १९९४)
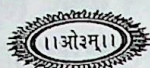
ऋषिः—यमः ।। देवता—दुःस्वप्ननाशन, उषा ।। छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुब् ।।
स्वरः-गान्धारः ।।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसोवयम् ।।

—अथर्व० १६।६।१

'अजैष्म अद्य, असनाम अद्य,
अभूम अनागसः वयम् ।।'

(अद्य) आज **(अजैष्म)** हमने सब तरह [अपनी दुर्वृत्तियों पर] विजय कर लिया है। **(अद्य असनाम)** आज हमने जो पाना था सो पा लिया। इस तरह अब **(वयम्)** हम **(अनागसः अभूम)** निष्पाप, निर्दोष, निर्मल हो गए हैं।

पूर्ण पूर्णता

(१)

पहचान न पाया था जब तक,
तुम को हे मेरे जीवन-धन!
तब तक जीवन दुख-स्रोत रहा,
तब तक सारा जग था बन्धन।

(२)

बाधाओं पर थीं बाधाएँ,
वैरी-दल पर था वैरी-दल।
कठिनाई पर थी कठिनाई,
दुर्जय था यह संसार सकल ।।

(३)

हे विश्वनाथ! हे विश्वम्भर!
पर जब से शरण गही तेरी,
तब से तो मैं दिग्विजयी हूँ,
तब से संसृति दासी मेरी ।।

(४)

तेरे चरणों में जब मन को,
मैं लगा चुका तो क्या डर है!
वांछित अब देने को उद्यत,
आहा! देखो दुनिया-भर है ।।

(५)

इसलिये कि मेरी इच्छा अब,
तेरे इङ्गित पर अवलम्बित।
किस में है इतनी शक्ति मुझे,
जो रक्खे अभिमत से वञ्चित॥

(६)

मन को जीता सब को जीता,
तुमको पाया, सब कुछ पाया।
है मरना जीना खेल मुझे,
अब तेरे रस्ते पर आया॥

(७)

यदि तुम सबके स्वामी, मैं भी;
स्थावर-जंगम सब मेरे हैं।
व्यापार प्रकृति के हैं जितने,
इंगित पर वे अब मेरे हैं॥

(८)

निष्पाप और हूँ निष्कलंक,
निर्दोष अपरिच्छिन्न हूँ मैं।
जैसे तेरे ये चरण-कमल,
जिनसे अब तो अभिन्न हूँ मैं॥

(९)

मुझको अब कोई कमी नहीं,
है विश्व-कोष मेरा ही धन।
मुझमें अब कोई कमी नहीं,
हूँ पूर्ण पूर्ण अब मैं भगवन्!!

(श्री नानकचन्द 'निश्चिन्त',
२६ पौष, १९९४)

।।ओ३म्।।
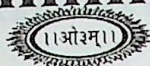
ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मा त्वा मूरा अविष्यवो, मोपहस्वान आदभन्।
मा कीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

—ऋक्० ८।४५।२३; साम उ० १।२।७; अथर्व० २०।२२।२

[हे मेरे आत्मन्! हे मेरे मन!] **(त्वा)** तुझको **(मूराः)** मूढ़ **(अविष्यवः)** अपनी पालना चाहनेवाले स्वार्थ-पीड़ित लोग **(मा दभन्)** मत नष्ट करें, मत दबा दें और **(उपहस्वानः)** उपहास करनेवाले, ठट्ठा उड़ानेवाले लोग भी **(मा)** मत दबा दें। तू **(ब्रह्मद्विषः)** ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखनेवाले मनुष्यों का **(मा कीं वनः)** मत सेवन कर, मत संगति कर।

धैर्य

हे मम अन्तर्! हे मम मानस! मेरे आत्मन्!

देवयान पथ का तू करने आज चला है शुभ अनुवर्त्तन। बढ़ कर चलना, किन्तु सँभलना। तेरे पथ में बाधाएँ हैं। यदि न तुझे है साहस तो तू- अभी ठहर जा आगे मत जा। यह सुधार का मार्ग कठिन है। तनिक सोच ले, अभी समय है। तुझे न भय है। पर, पीछे से यदि लौटेगा तो फिर तेरा- फिर से उठना भार बनेगा। नहीं चलेगा तेरा कुछ वश। गिर जाएगा- महाकाल के पैरों नीचे। देख, वहाँ है मृत्यु सामने। दिव्य अभीप्सा- जाग उठी है, तो आगे बढ़। त्याग-तपस्या-व्रत पालन कर। पैर जमाना- सँभल-सँभल कर। इन सोपानों पर तू आ चढ़, देव खड़े हैं ऊपर तेरे। देख रहे हैं तुझे प्रेम से। किन्तु न सम्मुख वे करुणाकर कुछ बोलेंगे तेरे, आकर। अभी मौन हैं; किन्तु कौन है जो थोड़ा भी तुझे कर सके पथ से विचलित? उनकी रक्षा धीमे-धीरे सदा साथ ही रहती तेरे। पर रहस्य में। देख सकेगा एक बार तू यदि वह झाँकी, प्रिय की बाँकी, तो ये तेरी सब शङ्काएँ, स्वयं गिरेंगी दाएँ-बाएँ। किन्तु न जब तक तुझे ज्ञान है, केवल पथ का एक ध्यान है। तब तक साहस और प्रगति बस इन से ही तू करना संगति। श्रद्धा तेरी, चिरकल्याणी माता होगी। आवश्यक है सदा पथिक को अमित धीरता और सदा स्थिर संकल्पों की श्रेष्ठ भावना और वीरता। होंगी पथ में कुछ विरोधिनी, मोह-बोधिनी शत्रु-शक्तियाँ। वे रोकेंगी, किन्तु तुझे क्या? तू न ठहरना। बढ़ते चलना। कुछ अज्ञानी तेरे भाई, मूर्ख बुद्धि से नहीं समझकर, तेरी निन्दा

कुछ विरोध भी फैलाएँगे। इस सुधार से उनको होगा स्वार्थ-हानि का एक काल्पनिक अन्दर से भय। वे कुछ अपनी तुच्छ पालना, स्वार्थ-साधना चाह रहे हैं। उनके अन्दर दुष्ट असुर का अभी इस समय काला आसन बिछा हुआ है। इसीलिये वे तुझको अपना क्रूर शत्रु-सा मान रहे हैं। वे अटकाकर पथ में रोड़े, कुछ झड़काकर, भ्रम फैलाकर, तरह-तरह से कष्ट अनेकों देंगे तुझको। मेरे आत्मन्! तू भी इनसे घबराना मत, दब जाना मत, नष्ट न होना। होगी तेरी विजय अन्त में। तू तेजोमय, तू अदम्य है। इसी तरह से, करते तुझको देख निराले, अचरज वाले इस सुधार के नये कार्य को, कुछ मतवाले हँसी करेंगे, बड़े तीक्ष्ण कटु व्यंग्य करेंगे। पर मेरे मन! हतोत्साह तू कभी न होना, कभी प्रभावित तू मत होना। इन सबको ही अनुद्विग्न हो सौमनस्य से, हृष्ट चित्त से तू सह लेना। एक समय वह भी आएगा, जब कि सभी ये भोले भाई जान सचाई बन अनुयायी तेरे पीछे हो जाएँगे, तुझे प्रेम से अपनाएँगे। किन्तु तुझे तो नारायण ही सदा मान्य हैं—एक भाव से। तुझे अपेक्षा किसी और की, कभी न होगी। ये पीड़ाएँ, ये हँसियाँ तो इस जगती में इस उठने के साथ सदा से बनी रही हैं। उन्नति होगी जहाँ, वहीं पर अवनति उस पर हँसा करेगी। किन्तु देर तक नहीं रहेगी उसकी बाधा। यह भी क्रम है, यह भी पथ है, इसमें पड़ना आवश्यक है। अग्नि-परीक्षा में पड़कर ही बन पाता है सोना कुन्दन। बिना कष्ट के सरल मार्ग से जाने में क्या भला वीरता! तू निर्भय हो बढ़ते चलना। मौन साधना शुद्ध भावना करते रहना। सहन-शक्ति की तुझमें कोई अभी कमी है; जब तक तुझमें आत्मभाव की भक्ति नहीं है। तो अच्छा है, तब तक तू भी ब्रह्मद्वेषियों हरिविमुखों का संग नहीं कर, सेवन मत कर; बिना प्रयोजन बात नहीं कर। मैत्री मुदिता और अपेक्षा यथायोग्य ही तू वर्त्ता कर। दीन जनों पर करुणा भी कर। व्यर्थ हानि-कर संघर्षों से बच जाएगा। मिल जाएगा तुझको अपने को दृढ़ करने का वह अवसर, जिसमें बाधा नहीं रहेगी। सदा शान्ति ही बनी रहेगी। तू दृढ़ होगा। फिर लोकों का अधिपति होगा। नायक बनकर तू इन सब के बीच रहेगा। किन्तु ठहरना, लक्ष्यसिद्धि तो तभी मिलेगी, जब कर देगा पूर्ण भाव से हरि के चरणों में तू अपना आत्म-समर्पण। यह देवार्चन रक्षक होगा।
ब्रह्मवर्म का करना धारण। तू कर देगा युग-परिवर्तन॥....

[विनय, ४ माघ, १९९४]

देवता – इन्द्रः ।

मा त्वा मूरा अविष्यवो,
मो पहस्वान् आदभन् ।
मा कीं ब्रह्मद्विषो वनः ।।

ऋक् – ८,४५,२३ ।। साम – ३०,१,२,७. ।।

आस्थाहीन, दम्भी और दुर्जन व्यक्तियों की संगति से दूर रहने का संकल्प करते हुए वेद का ऋषि स्वयं अपने मन को दृढ़ करता है :–

हे मेरे मन ! तुझ पर कितने ही संकट आ जायें, सब संसारी अभावों में घिर जाये, मृत्यु का भय भी सामने खड़ा हो, फिर भी तू **'मूरा अविष्यवः मा दभन्'** ऐसे व्यक्तियों का दासत्व स्वीकार न करना, जो नास्तिक और अविश्वासी हों। ईश्वरीय भय को न माननेवाला व्यक्ति केवल मूर्ख ही न होगा, बल्कि नृशंस-निष्करुण भी होगा। स्वार्थ से अन्धा होकर वह न्याय-अन्याय की परवाह नहीं कर सकेगा। उसकी नीयत केवल तेरा शोषण करने की होगी।

ऐसे दम्भी व्यक्ति का हृदय सदा सहानुभूति शून्य रहेगा। दूसरे की भावनाओं का उपहास करना और उन्हें तुच्छ मानकर उनकी अवहेलना करना ही ऐसे स्वार्थान्ध व्यक्तियों का खेल है। इस खेल-खेल में ही वह अपने आश्रितों के जीवन को नष्ट कर देते हैं। हे मन ! भूल से भी ऐसे **'उपहस्वानः ब्रह्म द्विषः'** स्वार्थी-लोभी व्यक्तियों के **'मा कीं वनः'** कुचक्र में न पड़ना।

संकल्प

भीरु, अधम जन संग त्याग कर,
शुभ पावन संकल्प ग्रहण कर।
लक्ष्य प्राप्ति के लिए बढ़ा चल,
प्रभु मंजिल की ओर निरन्तर।

हे मेरे मन ! तू एकाकी,
बढ़ते जाना देव पन्थ पर।
रुक मत जाना बीच राह में,
पौरुष खोकर, साहस तजकर।

देखो कहीं लौट मत आना,
डरकर अगणित बाधाओं से
देखो, कहीं न विचलित होना,
जग की कुत्सित निन्दाओं से।
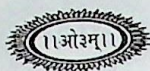
ऋषिः—**कविः** (क्रान्तदर्शी) ॥ देवता—**सोमः पवमानः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

परि प्रिया दिवः कविः, वयांसि नप्त्योर्हितः ।
स्वानै र्याति कविक्रतुः ॥ —साम पू० ५।९।१०; ऋ० ९।९।१

(**दिवः**) द्युलोक का (**कविः**) कवि (**नप्त्योर्हितः**) द्युलोक और पृथिवी के बीच में ठहरा हुआ (**कविक्रतुः**) अपनी आक्रान्तदर्शिता से (**स्वानैः**) सुरीली तानों द्वारा (**प्रिया**) प्यारे (**वयांसि**) उड्डीयमान लोकों के (**परि याति**) चारों ओर भ्रमण करता है।

दिवः कविः
(द्युलोक का कवि)

हे द्युलोक के वासी!
देह तुम्हारा इस धरती पर,
तुम हो सदा प्रवासी॥

कला-रूप सौन्दर्य-हृदय कवि!
ऊपर खेल रहा है वह रवि।
क्या उससे भी परे तुम्हारी
चढ़ी भावना की प्यारी छवि?
आधे नीचे, आधे ऊपर,
अद्भुत दिव्य विलासी!

क्या संगीत? सुरीले सुमधुर,
उठते चले अलौकिक से स्वर।
छूने लगे वहाँ तारों को
फिर बह चले उन्हें भी पी कर।
लहर सुरीली, तान नशीली।
फैली शुभ्र कला-सी॥

जग सोता तुम ऊपर रहते,
अन्तरिक्ष में कवि, कुछ कहते।
फिर तुम नूतन ग्रहोपग्रहों
के निर्माता बनकर बहते।
दृश्यमान लोकों को तुमने—
कर डाला है बासी॥

इसमें उसमें भारी अन्तर,
वह अध्यात्म-लोक है भीतर।
कवि की वहाँ भावनाएँ हैं,
नवयुग का सन्देश निरन्तर।
वहाँ प्रेम मङ्गल अविनाशी,
फैली यहाँ उदासी॥

ऋषे! क्रान्तदर्शिन्! जगती में
तान तुम्हारी धीमे धीमे,
कायाकल्प चली है करने,
अरे! क्या किया हँसी-हँसी में?
देव! तुम्हें आनन्द मस्तियाँ,
और असुर को फाँसी॥

इन उड़ते लोकों में प्यारे!
घूम रहे हो बिना सहारे।
मुझको भी यह कला सिखा दो,
मैंने तन मन तुम पर वारे।
और भला क्या दूँगी तुमको,
मेरे कवि! "मैं दासी"॥

युग-परिवर्तन खेल तुम्हारा;
क्रान्तदर्शिता का बल सारा।
फिर भी ऐसे भूले रहते,
कम्पित रहता है इकतारा॥
कभी धरा पर भी उतरोगे?
हे द्युलोक के वासी!

(वेदव्रत, २८ पौष, १९९४)

देवता—सोमः पवमानः।

परिप्रिया दिवः कविः
वयांसि नप्त्योर्हितः।
स्वानै र्याति कविक्रतुः॥

साम पू० ५. ९. १०.॥
ऋग्वेद ९. ९. १.॥

विश्व के सुदूर अन्तरिक्षों में निरन्तर ध्वनित होते दिव्य स्वरों का संगीत सुनकर समाहित हुआ ऋषि मानव मात्र को इस दिव्य संगीत का श्रवण करने की प्रेरणा देते हुए कहता है :—

'दिवः कविः नप्त्योर्हितः' देवलोक का वह 'स्वर-स्वामी सम्पूर्ण अन्तरिक्ष के कण-कण में व्याप्त है। उसकी **परिप्रिया** स्वर-तरंगों की चुम्बकीय चेतना-शक्ति में विश्व के विराट लोक आबद्ध हैं।

विश्व की सबसे शाक्तिशालिनी ध्वनियाँ वहीं हैं, जो अतिशय उग्र होने के कारण ही अश्राव्य हैं। उन्हीं मौन स्वर-सूत्रों में विराट जगत बँधा हुआ है।

'कविः क्रतुः स्वानैर्याति' केवल कवि के अन्तःकरण के तार ही उस दिव्य स्वरधारा को आत्मसात् कर सकते हैं। बाह्य स्वरों की सूक्ष्म ध्वनियों से जब अन्तर के तारों का स्वर मिलता है, तो उनमें स्वयं एक मधुर कम्पन आ जाता है।

उस कम्पन के साथ ही हम चेतना के सूक्ष्मतम स्तर पर पहुँच जाते हैं। और तब हम उड्डीयमान लोकों में परिभ्रमण कर सकते हैं।

विश्व वीणा

मोहे अन्तर वो स्वर भर दे,
बाजें हृदय के तार।

अपने स्वर तू ऐसे भर दे,
जो मेरी सब सुध-बुध हर ले।

गीत भरे जो शशितारों में,
मोहे भी दे झंकार।
बाजें हृदय के तार।

यह मन मेरा, मन्दिर तेरा
गीत बनें उपहार।

मेरी वीणा के स्वर सोये।
प्रेम के तेरे भाव संजोये।
आओ अपने आप बजाओ,
मन तन्त्री के तार।
हे अक्षर ओंकार।

मेरे मन में, सारे गगन में।
गूँज उठे झंकार।
बाजें हृदय के तार।
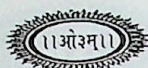
ऋषिः—**प्रस्कण्वः** [प्रकृष्ट मेधावी] ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः, प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं च, आ च विशन्त्युशतीरुशन्तम्॥

—साम पूर्वार्चिक ६।५।१२

(**मनीषाः**) सङ्कल्प (**सोमम् अच्छ**) वीर-रस की ओर (**अपाम्**) पानी की (**तुर्तुराणाः**) उछल रही (**ऊर्मयः इव इत्**) तरङ्गों की तरह (**प्र ईरते**) बढ़ रहे हैं। यह (**उशतीः**) चावभरी [तरङ्गें] (**उशन्तम्**) उस चाव के माते को (**नमस्यन्तीः**) नमस्कार करती हुई (**उप च यन्ति**) उसके निकट जाती हैं। (**सम् विशन्ति, आ-विशन्ति च**) और उसमें समाविष्ट हो-होकर आवेश ला रही हैं।

सङ्कल्प - समारोह

खेल रही अलबेली फाग॥
लाख रसों का एक वीर-रस,
उठा हृदय में जाग।
सौंप दिया सर्वस्व वीर को,
फिर क्या गृह-अनुराग।
माँ-जाया है? पति है? सुत है?
कहती—"रण-भू भाग।
आय लौट वेदि से गुरु की?
जलो वीर! बन आग।"
नाच रहा नेत्रों की अणि पर,
माँ का मन बेलाग।
भेंट-भेंट क्षण-क्षण बलि नूतन,
कहती—"अहो सुहाग!"
खेल रही अलबेली फाग॥

(**चमूपति,**
१ फाल्गुन, १९९१)

।।ओ३म्।।
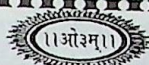
ऋषिः—**कूर्मः** गृत्समदो वा।। देवता—**आदित्यः**।। छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**।।
स्वरः—**धैवतः**।।

न दक्षिणा विचिकिते न सव्या, न प्राचीन मादित्या नोत पश्चा।
पाक्याचिद् वसवो धीर्या चिद्, युष्मानीतो अभयं ज्योति रश्याम्।।

—ऋक्० २।२७।११

(**न दक्षिणा विचिकिते**) न दाईं तरफ कुछ दिखाई देता है (**न सव्या**) और न बाईं तरफ़ (**न**) न तो (**आदित्याः**) हे आदित्यो, आदित्य देवो! (**प्राचीनं**) सामने ही कुछ दिखाई देता है (**न उत पश्चा**) और न कुछ पीछे। इसलिये (**पाक्याचित्**) मैं चाहे कितना अपरिपच, कच्चा होऊँ और (**धीर्याचित्**) चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊँ (**वसवः**) हे वासक आदित्यो! (**युष्मानीतः**) किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं (**अभयं ज्योतिः**) भयरहित प्रकाश को (**अश्याम्**) प्राप्त हो जाऊँ।

अन्तराल

कहाँ आ घिरा सामने बस,
अँधेरा, अँधेरा, अँधेरा।।
न दायीं तरफ कुछ मुझे दीखता है,
न बायी तरफ़ कुछ नज़र आ रहा है।
इधर सामने शून्य ही शून्य, पीछे
वही एक सुनसान-सा छा रहा है।।
लिया छीन आदित्य देवो!
किसी ने सभी सार मेरा।।....
महा रात्रि-सी एक आई निराली,
न कोई किरण दीखती, क्या बला है?
हरे! क्या करूँ? मैं विवश-सा हुआ हूँ
इन्हीं जीवनों से मरण भी भला है।
नहीं है कहीं अन्त इसका,
यहाँ रैन ही का बसेरा।।....
गिरा एक दुर्भेद्य-सा स्थूल पर्दा,
न मानस-नयन आज खुल-से रहे हैं।

मुँदे हैं पलक और उन पर भयंकर
विविध स्वप्न के लोक तुल-से रहे हैं।
निरन्तर निकल आँसुओं ने,
मुझे सब तरफ ही बिखेरा॥....
लगा सोचने जब तनिक बैठ कर मैं,
उलझने लगी और भी यह समस्या।
मुझे जान पड़ता जगत् टूटता-सा,
निरर्थक लगी आज तक की तपस्या।
सभी संशयों ने अचानक,
मुझे एक ही साथ घेरा॥....
महायुद्ध में थक रहा हूँ निरन्तर,
समझ लो कि मैं दीन हूँ और कच्चा।
अबल ही सही अब नहीं धैर्य मुझमें,
मुझे मान लो एक नादान बच्चा।
मुझे देवदूतो! बचा लो।
दिखाओ विजय का सवेरा॥....
नहीं कुछ पुरानी कमाई यहाँ है,
नया ही चला था कि यह रात आई।
सुनी थी कहानी, न कुछ कल्पना थी।
स्वयं सामने अब वही बात आई।
रुकी-सी प्रगति आज सारी।
लगा बैठने डाल डेरा॥....
समझ आज इतना गया हूँ कि देवो!
इसी दिव्य नेतृत्व में आ सकूँगा।
तभी इस महारात्रि से पार होकर
अभय ज्योति का वास मैं पा सकूँगा॥
न कुछ और मेरा सहारा।
हरे, एक बस नाम तेरा॥.....

(वेदव्रत,
२७ पौष, १९९४)

देवता – आदित्यः ।

न दक्षिणाविचिकिते न सव्या,
न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्याचिद् वसवो धीर्याचिद्,
युष्मानीतो अभयं ज्योति रश्याम् ॥

ऋक्. २. २७. ११ ॥

चारों ओर से घिरे गहन अन्धकार में भयातुर निर्बल व्यक्ति केवल अभय याचना कर सकता है ।

हे समस्त ज्योति के प्रथम स्रोत प्रभु ! हमारे जीवन में मृत्यु की महारात्रि का भयंकर अन्धकार छा गया है । इतने संशयों और भयों से हृदय आच्छादित हो गया है कि **'न दक्षिणाविचि किते न सव्या'** दायें-बायें, उत्तर-पूर्व किसी भी दिशा में कोई सुनिश्चित मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता ।

'न प्राचीनं न उत पश्चा' न सामने कुछ दिखायी देता है और न कुछ पीछे ।

'पाक्याचिद् धीराचित्' हमारी विवेक शक्ति बहुत अनुभव शून्य है । इतना धैर्य भी नहीं कि साधना-पथ पर चल सकें ।

'वसवः युष्मानीतः अभयं ज्योतिः अश्याम्' इसलिए हे वासव आदित्यो ! ज्योतिर्मय शक्तियो ! आपके पथ-दीप ही हमें अभय दे सकेंगे और आपकी ज्योति का स्पर्श पाकर ही हमारी अन्तःप्रज्ञा के द्वार खुलेंगे और हम अमृत मार्ग पर चल सकेंगे ।

आलोक भिक्षा

हे ज्योतिर्मय आओ !

हे आदित्यो आओ !

अन्तर में आलोक जगाओ ।

गह्वर गूढ़ अँधेरा मेरे

चारों ओर घिरा है

दक्षिण - उत्तर, पूरब - पश्चिम

सब में तिमिर भरा है ।

भय जंजाल भगाओ

अभय रश्मि ले आओ ।

बुद्धि नये जंजाल बनाये

मन संशय में डोले ।

भीति भावना और

अविश्वासों के जलते शोले ।

शान्ति नीर बरसाओ

हे आदित्यो आओ

अन्तर में आलोक जगाओ ।
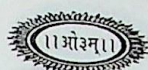
ऋषिः—**सत्यश्रवाः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** । **स्वराड् वा ब्राह्मी गायत्री** ॥ स्वरः—**पञ्चमः, षड्जो वा** ॥

महे नो अद्य बोधय, उषो राये दिवित्मती ।
यता चिन्नो अबोधयः, सत्य श्रवसि वाय्ये, सुजाते अश्व सूनृते ॥

—ऋक्० ५।७९।१; साम पू० ५।४।३; साम उ० ८।३।११

(उषः) हे उषः (**दिवित्मती**) दिव्य प्रकाशवाली तू (**नः**) हमें (**अद्य**) आज (**महे राये**) महान् ऐश्वर्य के लिए (**बोधय**) जगा। (यथाचित्) जिस प्रकार तू पहले (**नः**) हमें (**अबोधयः**) जगाती रही है उसी प्रकार (**सुजाते**) हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मनेवाली! (**अश्व सूनृते**) हे महान् व्यापक प्रिय सत्यात्मिके वाणि! तू आज मेरे इस (**सत्यश्रवसि**) सत्य ज्ञानवाले (**वाय्ये**) निरन्तर विस्तारणीय जीवन में [प्रकट हो]।

उषे!

रहने दो यह अपनी जागृति ॥
रहने दो अरुणोदय हाला और खिली कलियों की माला,
जिस से मेरा सुमन खिल उठे, मुझे सोम का दो वह प्याला।
जिससे हो मेरी नव संसृति ॥
तुम कहतीं, यह दिन जागृतिमय, पर मुझको यह भी स्वप्नालय।
रंग बदल देने से क्या यदि, नहीं हृदय में हो ज्ञानोदय।
इससे क्या बदले यदि आकृति ॥....
सच्ची जागृति की छवि सुन्दर, मैंने यदपि न देखी भू पर,
फिर भी इतना बोध कि समझूँ, सच्चे-झूठे में क्या अन्तर।
क्या है सुकृति और क्या दुष्कृति ॥....
इस जागृति में ताप भरा है, स्वार्थ, द्वेष, अनुताप भरा है।
रक्तपात तारों का इसमें, इस में करुण विलाप भरा है।
इस से क्या—यह सुघर कलाकृति ॥.....
तुम्हें देख फिर भूल न जाऊँ, कहीं तिमिर ही को अपनाऊँ,
मुझको उषे, सुजागृति वह दो, जिसमें अक्षय शैशव पाऊँ।
खेले विस्मृति से मेरी स्मृति ॥......

(श्री जगन्नाथ प्रसाद, ५ माघ, १९९४)
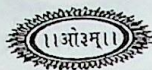
ऋषिः—विरूपः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

न घेदग्ने! स्वाध्यो अहा विश्वा नृचक्षसः। तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥

—ऋक्० ८।४३।३०

(अग्ने) हे परमात्मन्, हम **(विश्वा अहा)** सब दिन, सदा **(घ)** निश्चय से **(ते इत्)** तेरे ही लिए **(स्वाध्यः)** उत्तम कर्म करनेवाले हों। **(नृचक्षसः)** मनुष्यों को ठीक पहिचाननेवाले हों और इस तरह **(दुर्गहा)** दुर्गाहनीय प्रसङ्गों को **(तरन्तः)** तरते जानेवाले **(स्याम)** होवें।

तरन्तः स्याम
(संतरण)

नाथ! करें शुभ कर्म, स्मरण कर
सदा तुम्हारा नाम।
उसे तुम्हें ही अर्पित कर दें,
स्वयं बनें निष्काम।
दो सुबुद्धि—मानव-हृदयों को
ठीक ठीक पहिचानें,
पार करें जीवन-पथ दुर्गम,
कुछ भी कठिन न मानें ॥

(श्री सत्यकाम 'परमहंस',
मार्गशीर्ष, १९९२)
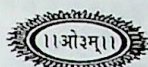
ऋषिः—**विरूपः** ।। देवता—**अग्निः** ।। छन्दः—**पादनिचृद् गायत्री** ।। स्वरः—**षड्जः** ।।

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।। —ऋक्० ८।४४।२३

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप! **(यत् अहं त्वं स्याम्)** जब मैं तू हो जाऊँ **(वा घ)** या **(त्वं अहं स्याः)** तू मैं हो जाय तो **(ते इह आशिषः)** तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद **(सत्या स्युः)** सत्य, सफल हो जाएँ।

वञ्चित

प्यारे! कब से बरस रहा तू,
पर मैं सूखा खड़ा रहा।
अनुपम रस से सींच रहा तू,
मैं रूखा ही पड़ा रहा।।

तेरा क्या, तूने तो अबतक
सदा स्नेह ही मुझे दिया।
अनजाने में अपने ही को
वंचित मैंने स्वयं किया।।

अपने झूठे अहंकार की
बरसाती को ओढ़ लिया।
आँखों पर भी पर्दा डाला
यहाँ-वहाँ का नशा पिया।।

किन्तु उलझकर गिरा और यह
पर्दा थोड़ा खिसक गया।
आँखों को दो बूँद छू गईं,
प्यारे! तेरी बड़ी दया।।

अब तक मैंने बचते-बचते
स्तुतियों के गाए थे गीत।
किन्तु मुझे क्या भला पता था
तेरा ऐसा प्रेम अतीत।।

तू देता ही गया निरन्तर
अपने मंगल आशीर्वाद।
और मुझे तेरी लीला का
खेल नहीं अब तक भी याद॥

अब तेरी वर्षाओं में ही
पड़ा रहूँगा मैं दिन-रात।
यह बरसाती फाड़ रहा हूँ
जान गया हूँ सच्ची बात॥

मैं तू होऊँ, या तू मैं हो;
अपनेपन की छोड़ूँ टेक।
तेरे आशीर्वाद सत्य हों,
होने चले अग्नि! हम एक॥

मंगल मिलन, मिलन यह मंगल,
कल्याणों का यह कल्याण।
सखे! आज के गिरने में ही,
छिपा रखा था मेरा त्राण।

अपना अन्त करूँ अपने में,
करो आत्म-उद्धार हरे!
चिर-वियुक्त यह अङ्ग तुम्हारा,
कर लो अंगीकार हरे!!

(**वेदव्रत,** २९ पौष, १९९४)

देवता—अग्निः ।

> यदग्नेस्यामहं त्वं,
> त्वंवा घा स्या अहम् ।
> स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।।

ऋक् ८.४४.२३.

विश्वात्मा से परम अनुकूलता अनुभव होने के उपरान्त वेद का आद्य ऋषि प्रभु में पूर्णतया समाहित होने का आशिष माँगता है।

हे परम ज्योतिर्मय अग्ने ! अभी तक आपकी अनुकम्पा से मेरा कर्ममय जीवन पूर्णतः प्रशस्त रहा है।

अब मैं आपके द्वार पर अन्तिम आशिष लेने की कामना से आया हूँ, **'यत् अहं त्वं स्याम्'** कि मैं सर्वांश में आपका रूप ग्रहण कर लूँ, आपकी ज्योति में विलीन हो जाऊँ।

और **'त्वं अहं स्याः'** तुम मेरे सदृश हो जाओ। दोनों अभिन्न हो जायें। इस पूर्ण मिलन में ही **'ते आशिषः सत्या स्युः'** अब तेरे आशीर्वादों की सत्यता होगी। यह पूर्ण मिलन ही मेरे जीवन का, मेरी प्रार्थनाओं का चरम लक्ष्य है।

आशिष दे

आशिष दे प्रभु यह आशिष दे, मिटे अहं का विष मन से

तेरा अक्षय वैभव पाकर अहंकार से हृदय भरा।
इस झूठे अभिमान भाव से तेरा-मेरा भेद भरा।

इसे दूर कर दो प्रभु अब फिर तू मैं, मैं तू हो जाऊँ।
मैं न रहूँ, तू ही बस तू हो, तुझ में ही मैं खो जाऊँ।

तेरे आशीर्वाद सत्य हों, सबको अपना-सा जानूँ।
तेरे रूप भरे नैनों में सब में तुझ को पहचानूँ।

आशिष दे प्रभु यह आशिष दे, मिटे अहं का विष मन से

देवता – पवमानः सोमः ।

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमा मनीषा ।
दश स्वसारा अभिसानो अव्ये मृजन्ति वह्निं ऽ सदनेष्वच्छ ॥

साम पूर्वार्चिक ६-५-११ ॥

विश्व के असीम अजस्र सोम की सहस्र धाराओं द्वारा विराट पुरुष का अभिषेक होते देखकर वेद का प्रतिभाशाली ऋषि पुकार उठता है–

'दश स्वसारः अव्ये सानौ वह्निं अभि मृजन्ति'–आज इस विराट विश्व मण्डप में अभिषेक की तैयारियाँ हैं। दशों दिशाएँ अपने परमदेव की पूजा के लिए नैवेद्य लेकर ऐसे आयीं हैं, जैसे दस सखियाँ अपने पूज्य देवता की अर्चना के लिए मन्दिर के द्वार पर खड़ी हों।

उनके हाथों में अमृत से भरे स्वर्ण-कलश हैं। उनके आँचल में असीम लोकों के सौरभमय पुष्प हैं। और उनका मन अपने वन्दनीय की श्रद्धा से भारी है। केवल भावनातिरेक में ही वे देवार्चन के लिए नहीं आयीं, बल्कि **'धिया मनोता प्रथमा मनीषा'** पूरे विवेक और संकल्प के बाद वे अपने देवता का अभिषेक करने आयीं हैं।

यह अभिषेक प्रतिदिन होता है। सूर्य अपनी किरणों से **'रथ्ये आजौ'** महारथी विश्वात्मा का अभिषेक करता है। वरुण देव पूजा का कलश लेकर अर्घ्य चढ़ाते हैं। **'वक्वा असर्जि'** हमारी वाणी मुखर होकर उसकी अर्चना करती है।

अभिषेक

आज हमारा है अभिषेक।
दशों दिशाएँ सखियाँ बनकर,
महासिन्धु से स्वर्ण कलश भर,
नभ मंडल से उतरीं भूतल पर,
सबका अभिनन्दन करती,
रक्तिम आज क्षितिज की रेख।
आज हमारा है अभिषेक।

आज मनीषा है मंगलमय,
उल्लासों से पूर्ण हृदय,
पृथिवी नभ के अन्तराल में,
गूँज रहा स्वर जय जय जय।
आज हर्ष का है अतिरेक।
आज हमारा है अभिषेक।

लोक-लोक के पुष्प सुगन्धित,
करने को श्रद्धा निज अर्पित,
लाते सभी देवता जग के,
तू ही है सबका अभिनन्दित।
आज सागरों के अन्तर में।
भरा भावना का आवेग।
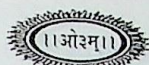
ऋषिः—**कश्यपः (द्रष्टा)**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ, धिया मनोता प्रथमा मनीषा।
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये, मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ॥

—साम पूर्वार्चिक ६।५।११

(दश स्वसारः) दशों दिशाएँ बहिनें बनकर **(अव्ये सानौ अधि)** भावना की चोटी पर चढ़ी **(सदनेषु)** अपने अपने स्थानों में **(वह्निम् अच्छ)** पृथिवी माता का भार उठानेवाले [सेनापति] को लक्ष्य कर **(मृजन्ति)** मङ्गल मना रही हैं—अभिषेक-उत्सव कर रही हैं। **(धिया)** धारणा द्वारा **(मनोता)** मनों को ओत-प्रोत करनेवाला **(प्रथमा मनीषा)** प्रथम सङ्कल्प **(यथा)** किस [अद्भुत] प्रकार से **(रथ्ये आजौ)** महारथियों के युद्ध के रूप में **(वक्वा असर्जि)** बोल उठा।

अभिषेक

आज हर्ष का है उद्रेक।

दूँगा नया जन्म भूतल को, अन्तरिक्ष को नभ के तल को,
स्थावर जंगम सबके बल को—बनें सृष्टियाँ नई अनेक।
आज हर्ष का है उद्रेक।

सेना सजी आज मंगल है, यह उत्सव है प्रिय कलकल है,
मेरा शुभ संकल्प अचल है—होगा नूतन अभिनय एक।
आज हर्ष का है उद्रेक।

दसों दिशाएँ बहिनें बन कर, चढ़ी भावना की चोटी पर,
विमल रसों से स्वर्ण कलश भर—करती हैं मेरा अभिषेक॥
आज हर्ष का है उद्रेक॥

(वेदव्रत, फाल्गुन, १९९२)
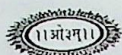
ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट् पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायु र्वा भवति वस्त उस्राः ।
कः इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं भ्रांत्र वष्टि कवये क ऊती ॥

—ऋक्० ४ । २५ । २

(सोम्याय) सोम के योग्य इन्द्र के लिए **(कः)** कौन **(वचसा)** वाणी द्वारा **(ननाम)** नमन करता है ? **(वा)** अथवा कौन है जो उस इन्द्र के **(मनायुः)** मनन करने की इच्छावाला **(भवति)** होता है ? कौन उसकी **(उस्राः)** किरणों व गौओं को **(वस्ते)** धारण करता है ? **(कः)** कौन **(इन्द्रस्य युज्यम्)** इन्द्र के साथ की, **(कः सखित्वं भ्रात्रम्)** कौन उसकी मैत्री या भ्रातृभाव की **(वष्टि)** कामना करता है ? **(कः कवये ऊती)** कौन उस क्रान्तदर्शी इन्द्र के लिए कान्ति, प्रीति व भक्ति को रखता है ?

भूल

मेरे जीवन की अमिट भूल !

है अभ्यन्तर में खटक रही, प्रतिपल बन अतिशय तीक्ष्ण शूल ॥

१. जिस सोम देव को नमस्कार, करना था मुझको वार-वार,
मैं उसे भूल, पाषाण-मूर्त्ति पर रहा चढ़ाता स्नेह-फूल ॥

२. जिस 'प्रिय' के गुण का मधुर-गान, था लक्ष्य हमारा चिर-महान,
मैं उसे भूल धनपतियों को, था बना रहा निज सानुकूल ॥

३. जिस 'प्रिय' का करना आराधन, सर्वस्व समर्पण कर तन-मन,
मैं उसे भूल, 'विषयों' में रत, था खोज रहा भव-शान्ति-कूल ॥

४. जिस 'प्रिय' की किरणें दीप्तिमान, करतीं अभिनव जीवन प्रदान,
मैं उसे भूल, था समझ रहा, इन्द्रिय-सुख को ही सर्वमूल ॥

५. जो जगत-मित्र, जो जग-भ्राता, सम-भाव सभी को अपनाता,
मैं उसे भूल कर अन्धभक्ति में, रहा फाँकता विरस धूल ॥

६. जिस 'कवि' के गीतों में विभोर, मानवता नवरस-सराबोर,
मैं उसे भूल जड़ प्रकृतिवाद के चक्कर में था रहा झूल ॥

७. मैं गया दूर तक पतन-ओर, पर अभी शेष इक मुक्ति-डोर,
अति क्षमाशील मेरा 'प्रियतम', विस्तृत है उसका प्रेम-तूल ॥

मेरे जीवन की अमिट भूल !....

(श्री सन्तप्रसाद वर्मा, २४ पौष, १९९४)
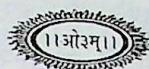
ऋषिः—**त्रितः** (पूरा तरा हुआ) ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्वरः—**षड्जः** ॥

तिस्रो वाच उदीरते, गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत्॥

—ऋक्० ९।३३।४; साम पूर्वार्चिक ५।९।५; उत्तरार्चिक २।२।१४

(**तिस्रः वाचः**) तीन वाणियाँ [अ उ म्] (**उदीरते**) उठ रही हैं। मानो (**धेनवः**) दुधेला (**गावः**) गायें [बछड़ों को] (**मिमन्ति**) बुला रही हैं। (**हरिः**) चितचोर (**कनिक्रदत्**) गरजता हुआ (**एति**) आ रहा है।

माँ की मृदुल पुकार!

१. आई कहाँ से-मधुर मधुर-सी, धीमे धीमे, बढ़ती-बढ़ती,
होती-सी साकार।

२. अब न रुकूँगा-सोया था मैं, खोया था मैं, व्याकुल-सा हूँ,
यहाँ नहीं है, मेरा प्रिय संसार।....

३. यह सब वैरी-छला गया मैं, इन में भूला, अब तक खेला,
अभी अचानक, समझ सका हूँ, मेरा वह परिवार।....

४. हाँ उठती थी-यहाँ पास ही, मुझे लक्ष्य कर, उस वीणा की,
वत्सल-वत्सल, अविकल-अविरल, मञ्जुल-मञ्जुल,
कोमल-सी झंकार।....

५. उसे न सुनकर-स्वप्न समझ कर, चपल चपलतर, इस शरीर में,
इन प्राणों में, अपने मन में, चित्त-बुद्धि में, अहंकार में,
समझ रहा था सार।.....

६. अब निर्वश हूँ-कैसे ठहरूँ, इस धरती से, उस अम्बर से,
इन नदियों से, उन शैलों से, रोम-रोम से, ओम्-ओम् की,
वह ध्वनि उठती, जिसमें अनुपम प्यार।...

७. दिनभर थक कर-भूखे बछड़े, को माँ की सुधि, हुई उसे अब,
वही रँभाना, सुन पड़ता है, दिशा-दिशा से। चैन कहाँ अब?
वह आई माँ, अहा! रसीली, यह दुलार पुचकार।....

८. तीन वाणियाँ-एक रूप हों, अन्तरिक्ष द्यौः भूमि एक हों,
हरि की आहट, माँ की पग-ध्वनि, एक भाव से, मिलती जावें।
इन ध्वनियों के बढ़ूँ सहारे। देवि! समर्पण। यह ममता निस्सार॥....
माँ की मृदुल पुकार!!

(**वेदव्रत**, १२ माघ, १९९४)

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्रात्यः**॥ छन्दः—**साम्नी अनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

तस्य व्रात्यस्य।
एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव॥

—अथर्व० १५।१७।१०

व्रतों के पति, उस व्रात्य के
इन देवों का एक ही अमरत्व है,
वह है-केवल आहुति—पूर्ण समर्पण॥

देवता – व्रात्यः ।

तस्य व्रात्यस्य एकं तदेषा – ममृतत्वमित्याहुति रेव ।।

अथर्व. १५·१७·१० ।।
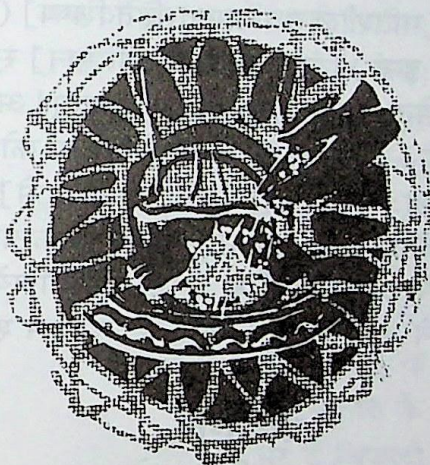
व्रात्य अमर पद के हे साधक। ध्यान सदा ही तुम यह रखना।
जीवन एक यज्ञ है; समिधा बनकर उसमें जलना।

तभी अमृत वरदान मिलेगा। तभी अमृत का पुष्प खिलेगा।
तभी जलेगी ज्योत हृदय में, तभी पूर्ण आनंद मिलेगा।

व्रात्य व्रतों के हे आराधक! तभी बनेंगे प्रभू सहायक।
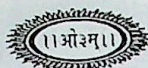
ऋषि:—**गौरिवीति:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप् (आर्ची स्वराट्)**॥
स्वर:—**धैवत:** ॥

वय: सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रम्, प्रियमेधा ऋषयो नाधमाना:।
अप ध्वान्त मूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्धि अस्मान्निधयेव बद्धान्॥

—ऋ० १०।७३।११; साम पू० ४।३।७

(सुपर्णा:) [ज्ञान, कर्मरूप] सुन्दर पक्षों से युक्त **(प्रियमेधा:)** मेधा-सम्पन्न, **(ऋषय:)** यथार्थदर्शी, **(वय:)** पक्षियों अथवा सूर्य-रश्मियों के समान [गतिशील तथा प्रमादरहित शिष्य] **(नाधमाना:)** प्रार्थना करते हुए, **(इन्द्रं)** [ज्ञानज्योति से दीप्तिमान्] सूर्य-सदृश गुरु के चरणों में **(उपसेदु:)** प्राप्त हुए [कि हे भगवन्! अब कृपा कर] **(ध्वान्तं अपोर्णुहि)** [रहे-सहे] अज्ञानान्धकार को भी निवारण कर [हमारे] **(चक्षु: पूर्धि)** नेत्रों को [प्रकाश से] परिपूर्ण कर दीजिये **(निधयेव बद्धान्)** [गुरुकुल-जीवन के कठोर] नियन्त्रण-पाश से बँधे हुए हमें, अब **(मुमुग्धि)** मुक्त कर दीजिये [जिससे कि जो दिव्य ज्ञान हमने आप से प्राप्त किया है उसे हम शीघ्र ही संसार में फैला दें]।

दीक्षान्त

यह महामोहमय तिमिर घोर,
घेरे जगती के ओर-छोर,
कर रहा उग्र शासन कठोर
ऊपर-नीचे क्या, सभी ओर
फिरते हैं उत्कट दस्यु चोर
करते मनमाने जुल्म ज़ोर,
उठ रही रुद्ध कातर निहोर—
"कब होगा प्यारा भव्य भोर?"

अब अधिक न हों प्राणी निराश,
हो जाए सबका क्लेश नाश।
हे इन्द्र! करो उन्मुक्त पाश
जाते हैं करने हम प्रकाश॥

तुमने खोले दृग दिव्य ज्ञान
देकर ऋषि-पदवी की प्रदान,
दुर्भेद्य वज्र पञ्जर समान
सह कर सुदृढ़ नियन्त्रण महान्
हम वयःप्राप्त मेधा-निधान
दुर्धर्ष वीर, ध्रुव धैर्यवान्
प्रज्ञान कर्म से गरुत्मान्
जाते हैं करने समुत्थान।

अब अधिक न हों प्राणी निराश,
हो जाए सब का क्लेश नाश;
हे इन्द्र! करो उन्मुक्त पाश
जाते हैं करने हम प्रकाश॥

उठती है मन में बस उमङ्ग
उड़ जाएँ हम बन कर विहङ्ग
ले जायँ शान्ति-सन्देश सङ्ग
कर दें वसुधा का दुःख भङ्ग।
जा स्तब्ध प्रकृति के अङ्ग-अङ्ग
में भर दें बिजली की तरङ्ग,
हम सभी बदल दें रङ्ग-ढङ्ग
दुनिया हो साहस देख दङ्ग॥

अब अधिक न हों प्राणी निराश,
हो जाए सबका क्लेश नाश;
हे इन्द्र! करो उन्मुक्त पाश
जाते हैं करने हम प्रकाश॥

झरतीं आशाएँ अश्रुपूर
धरती निःशब्द रही बिसूर
तुमसे कर प्राप्त तेज, शूर
कर दें अघ-पुञ्ज चूर-चूर।
वह दूर-दूर अत्यन्त दूर

कुछ बिखर गया मानो सिंदूर
चमका प्राची का कर्णपूर
जाने दो हम को भी जरूर।

अब अधिक न हों प्राणी निराश,
हो जाए सबका क्लेश नाश;
हे इन्द्र! करो उन्मुक्त पाश
जाते हैं करने हम प्रकाश॥

संवाद जा रहा कर्ण-कर्ण
हो उठा मर्मरित पर्ण-पर्ण,
पर फैलाए सुहिरण्यवर्ण
उन्नत कर ग्रीवा के सुपर्ण
हो रहे व्याप्त मङ्गल मराल
आया सुषमा ले उषाकाल
उज्ज्वल उदयाचल चारु भाल
विच्छिन्न हो गया तिमिर-जाल।

अब अधिक न हों प्राणी निराश,
हो जाए सबका क्लेश नाश;
हे इन्द्र! करो उन्मुक्त पाश
जाते हैं करने हम प्रकाश॥

(श्री पण्डित वागीश्वरजी,
२६ फाल्गुन, १९९४)

मेरी बेजोड़ कहानी है

य आत्मदा बलदा यस्यविश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० २५।१३

(**यः**) जो (**आत्मदाः**) आत्मज्ञान का दाता, (**बलदाः**) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा, (**यस्य**) जिसकी (**विश्वे**) सब (**देवाः**) विद्वान् लोग (**उपासते**) उपासना करते हैं, और (**यस्य**) जिसका (**प्रशिषम्**) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (**यस्य**) जिसका (**छाया**) आश्रय ही (**अमृतम्**) मोक्ष-सुखदायक है (**यस्य**) जिसका न मानना, अर्थात् भक्ति न करना ही (**मृत्युः**) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप (**देवाय**) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिए (**हविषा**) आत्मा और अन्तःकरण से (**विधेम**) भक्ति, अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें॥

मेरी बेजोड़ कहानी है

मैं क्या बतलाऊँ क्या बीती मेरी बेजोड़ कहानी है॥ ध्रुव॥

कोई रोवे कपड़े खोय गये कोई रोवे सम्पत्ति खोय गई।
अपना आपा मिलता न मुझे मैंने सब धरती छानी है॥ १॥

मैं रोता हूँ चिल्लाता हूँ मैं खोय गया मैं खोय गया।
नहिं चैन मिले दिन-रैन सदा मैंने सब धरती छानी है॥ २॥

मैं रोता हूँ जग हँसता है दुःखिया की सुनता कोई नहीं।
इतने में मेरे स्वामी ने अपनी लीला दिखलानी है॥ ३॥

छै दुश्मन पाँच लुटेरों ने बेहोश मुझे कर डाला था।
अब मुझसे डर वे भाग रहे उसने करुणा बरसानी है॥ ४॥

क्या काया पलटी भिखमंगा मैं राजों का अधिराज हुआ।
यह माया-रानी बन चेरी करती मेरी अगवानी है॥५॥

कोई न मुझे पहिचान सके यह एक अनोखा खेल हुआ।
जब से मैं नाच रहा मैंने सूरत अपनी पहिचानी है॥६॥

दो हाथ उठाकर कहता हूँ जिनको अमृत-रस पीना हो।
वह आये उसकी छाया में जिन मेरी लाज बचानी है॥७॥

उलटा चलने में मौत मिले सीधा चलने में राज मिले।
फिर क्यों दुनिया उलटा चलती यह मुझको अति हैरानी है॥८॥

कपड़े ढूँढे कपड़े दे दूँ सम्पत्ति ढूँढे सम्पत्ति दे दूँ।
जिन ढूँढा मैं उसको क्या दूँ मति मेरी यों बौरानी है॥९॥

मैं पच हारा उसके ऋण से, ना छूट सकूँगा मैं फिर भी।
उस पर अपना यह आपा ही वारूँ, यह मैंने ठानी है॥१०॥

—स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

देवता—आत्मा।

य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते।
प्रशिषं यस्य देवा, यस्य छाया अमृतम् यस्य मृत्यु।
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —यजुः० २५।१३

'यः प्रभुः आत्मदा बलदा' जो प्रभु आत्मबल का अक्षय स्रोत है; **'यस्य विश्व उपासते'** जिसकी उपासना में सारा विश्व तल्लीन है; **'प्रशिषं यस्य देवाः'** देव-शक्तियाँ विशेष रूप से जिसका कार्य करती हैं, **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** उस देवता को ही हम जीवन अर्पित करते हैं।

आदि शक्ति जो प्राण प्रसू है, आत्मवन्त बलशील महान।
जिसकी छाया में अमृत है, जीवन-मृत्यु एक समान।
जिसके आराधन में सारे, देव अतुल बल पाते हैं।
उसी देवता के चरणों में, हम सब हविष चढ़ाते हैं॥

कर ले कुछ सिंगार बावरे!

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(**यः**) जो (**प्राणतः**) प्राणवाले और (**निमिषतः**) अप्राणिरूप (**जगतः**) जगत् का (**महित्वा**) अपनी अनन्त महिमा से (**एक इत्**) एक ही (**राजा**) राजा (**बभूव**) विराजमान है, (**यः**) जो (**अस्य**) इस (**द्विपदः**) मनुष्यादि और (**चतुष्पदः**) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (**ईशे**) रचना करता है, हम लोग इस (**कस्मै**) सुखस्वरूप (**देवाय**) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिए (**हविषा**) अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसी की आज्ञा-पालन में समर्पित करके (**विधेम**) विशेष भक्ति करें॥

कर ले कुछ सिंगार बावरे!

कर ले कुछ सिंगार बावरे!
राजा के घर जाना है॥ ध्रुव॥

दोपाये चौपाये सब ने उसका शासन माना है।
दास बना है तू पैरों का फिर भी नहीं शरमाना है॥
कर ले कुछ .... ॥ १ ॥

सुन आतंक न उसका जिसको मिल जाता परवाना है।
पलक न मारे साँस न ले यह जितना ताना बाना है॥
कर ले कुछ .... ॥ २ ॥

सीख अकड़ना लटक रहा जो वह क्या सीस झुकाना है।
तुझे विजय का पहिन सेहरा फिर वह सीस नवाना है॥
कर ले कुछ .... ॥ ३ ॥

—**स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती**

देवता – आत्मा ।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा ।
येन स्वस्तमितं येन नाकः ।
येनान्तरिक्षं रजसो व्योम्नः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

यजु० ३२, ६ ॥

'येन उग्रा दृढ़ा पृथिवी द्यौ, च स्तमितं' जिसने विस्तृत आकाश, दृढ़ पृथिवी और अन्तरिक्ष की स्थिति स्थिर की है। **'यस्यान्त-रिक्षं रजसो-व्योम्नः'** और जिसकी विलक्षण शक्तियों से पृथिवी नभ के देवता गतिशील हैं, हम उस देवता को जीवन अर्पित करते हैं।

जिसने नभ विशाल पृथिवी को, अन्तरिक्ष को प्राण दिये।
जिसने अपनी दिव्याभा से, रवि-शशि ज्योतिर्मान किये।
जिसके एक चरण में त्रिभुवन, और त्रिकाल समाते हैं।
उसी देवता के चरणों में, हम सब हविष चढ़ाते हैं।
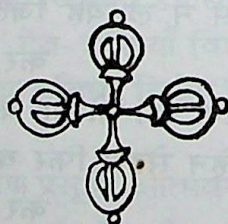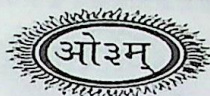
देवता – आत्मा ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्,
परिगृहीतममृते न सर्वम् ।।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता ।
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

यजु० ३४, २३ ।।

'येन, अमृतेन इदं भूतं भुवनं, भविष्यत् परिगृहीतम्' जिसके अमृत में वर्तमान, भूत और भविष्यत् – सब कालों का क्रियाशील जगत् परिव्याप्त है; **'येन यज्ञस्तायते सप्त होता'** जिस अमृत की आहुति से सप्तेंद्रियों का यज्ञ चलता है, उस सच्चिदानन्द को हम अपना जीवन अर्पित करते हैं।

जिसके अमृत घट में डूबे, भूत-भविष्यत-वर्तमान हैं।
जिसकी यज्ञ वेदि में सारे भुवन अकिंचन तृण समान हैं।
जिसकी ज्वालाओं में तपकर, प्राणी जीवन पाते हैं।
उसी देवता के चरणों में हम सब हविष चढ़ाते हैं।

देवता—अग्निः ।

यदंगदाशुषे अग्ने भद्रं करिष्यसि तवेतत्सत्यमंगिरः ।।
ऋक् १. १. ६ ।।

मन के संशय छोड़ के सारे
आया तेरे द्वार,
ईश्वर ! आया तेरे द्वार ।

यह तन अब तेरा ही धन है
वन्दन ही मेरा जीवन है
अरपन है तेरे चरणों में
मेरा सब संसार ।
ईश्वर ! आया तेरे द्वार ।।

कैसा अचरज तेरी माया
देनेवालों ने ही पाया
मेरी झोली खाली दाता
तेरे हाथ हजार ।
ईश्वर ! आया तेरे द्वार ।।

मन के संशय छोड़ के सारे
आया तेरे द्वार
ईश्वर ! आया तेरे द्वार ।

देवता—इन्द्रः।

स नः शक्रश्चिदाशकत् दानवां अन्तराभरः।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः॥ —ऋक् ८।३२।१२

(सः) वह **(शक्र)** शक्तिमान् **(नः चित्)** हमें भी **(आशकत्)** शक्तियुक्त करे! क्योंकि वह **(दानवान)** दान देनेवाला **(अन्तराभरः)** अन्तस्तल को भरनेवाला है। **(इन्द्रः)** वह परमेश्वर अपनी **(विश्वाभिः)** सब (ऊतिमिः) रक्षाओं से हमें समर्थ करे।

अन्तःदीप

जगत् उद्यान के हे दिव्य माली! सकल जग के विधाता शक्तिशाली!
खड़े हम दीन कब से हाथ खाली, कृपा की दृष्टि क्यों तुमने हटा ली?

कहाँ पर नाथ! वह जाये भिखारी, जिसे हो नित्य ही की भीख प्यारी?
महादानी तुम्हारा नाम जग में, प्रतीक्षा में खड़ा कब से सजग मैं?

बटोही दूर से मैं आ रहा हूँ, नहीं कुछ याद, मंजिल पर कहाँ हूँ?
यहाँ से शीघ्र ही चलना नियत है, अगम जग-सिन्धु निश्चित भी न पथ है।

मिली हैं शक्तियाँ मुझको बहुत कम, करूँगा पार कैसे पन्थ दुर्गम।
निराशा का अँधेरा छा रहा है, नजर दीपक न कोई आ रहा है।

तुम्हीं हो नाथ विपदा में सहायक, तुम्हीं हो दीनरक्षक, लोकनायक।
न लौकिक चाह मुझको कुछ रही है, विनय, हे प्राणधन, तुमसे यही है—

करो सामर्थ्यमय मन-प्राण-जीवन, करूँ जिससे विफल मैं मोह-बन्धन।
दया कर नाथ दुखिया का करो हित, गहन तम भेद-पथ कर दो प्रकाशित।

देवता—परमात्मा ।

एह्यूषु ब्रुवाणि तेऽग्न इत्येतरा गिरः ।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।।

ऋक्० ६.१६.१६. यजु० २६.१३.

ज्योति अभिनन्दन तुम्हारा ।

आज नैनों के छलकते अश्रुओं से—
ही करूँगा मौन मैं वन्दन तुम्हारा ।

गीत मेरे थम गये हैं,
गान में अक्षम हुए हैं ।

हे हृदयवासी निकट अपने बुलाओ,
कर सकूँ जिससे कि पद-वन्दन तुम्हारा ।

देवता – भूमिः ।

समह मेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्
वृश्चामि शत्रूणां बाहुनानेन हविषाऽहम् ।।

अथर्व १२.१.

हम स्वराष्ट्र गौरव की रक्षा करने का प्रण लेंगे ।
राष्ट्र-शक्ति संरक्षण-वर्धन के हित तन-मन देंगे ।
शत्रु गर्व खंडित कर देंगे कोटि-कोटि बाहू बलवान ।
राष्ट्र-यज्ञ की अग्निशिखा पर जीवन कर देंगे बलिदान ।

जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवि यथौकसम्
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।

अथर्व० १२.१.

विविध वेश भाषाओं से है, शोभित देश हमारा ।
नानाविध धर्मों-विश्वासों की बहती है धारा ।
सब अभीष्ट पूरे करती है कामधेनु-सी माता ।
वसुधा का हर पुत्र उसी से मुँह माँगा वर पाता ।

देवता – भूमिः।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामा क्रन्दो। यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्ना नसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥

अथर्व – काण्ड १२, सूक्त १

हे माँ। तेरे वीर पुत्र हम विजयगीत हैं गाते।
रणभेरी सुन मातृभूमि की रक्षा हित बलि जाते।
शत्रु सैन्य विध्वंस पूर्ण कर विजय ध्वजा फहराते।
रचते नृत्य मगन मदमाते, उत्सव नवल रचाते।
विविध वेशभूषा सज्जित है, फिर भी सब तेरी संतान।
बैरी दल का नाश करें पल में पा तेरा ही वरदान।

देवता-भूमिः ।

यस्यां पुरो देव कृताः क्षेत्र यस्यां विकुर्वते
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वकर्मा माशा –
माशां रण्यो नः कृणोतु ॥
अथर्व – काण्ड १२, सूक्त १.
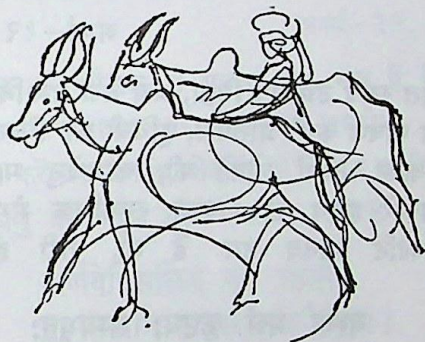
मातृभूमि ! तेरे आँचल में,
दिव्य भवन निर्माण करें ।
शस्य-श्यामला धरती तेरी,
झोली में धनधान्य भरें ।

तेरे अन्तर में मणि माणिक,
स्वर्ण अमित रत्नों की खान।
दिशा-दिशा से देश-देश से,
हो अविरत आदान-प्रदान !!

देवता–भूमिः ।

सत्यं बृहद् ऋतं उग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सानो भूतस्य भव्यस्य पत्नी,
उरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ।।

अथर्व–१२ काण्ड, १ सूक्त

शाश्वत सत्य उग्र तप निष्ठा, ब्रह्म तेज यम-नियम विधान ।
धारण पोषण करते प्रतिपल, पृथिवी का विस्तीर्ण वितान ।
तीन काल, तीनों लोकों की, कामधेनु माता धरती ।
ममता-भरे हृदय से सबका सर्वाधिक मंगल करती ।
कोटि-कोटि मानव हम हैं माँ, तेरी ही सन्तान ।

यस्या मन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः
यस्या मिदं जिन्वति प्राण देजत्,
सा नो भूमिः पूर्व पेये दधातु ।।

अथर्व–१२. १. ३

रत्नगर्भ सागर तेरे ही चरणों का करता अर्चन ।
ममता मय आँचल में तेरे अन्न अमित हैं अक्षय धन ।
शस्य श्यामला पृथिवी तुझ से ही पाते हैं मानव प्राण ।
तेरे मस्तक की शोभा हैं रवि-शशि-तारे ज्योतिर्मान ।
पूरे होते सभी मनोरथ माँ तेरा पाकर वरदान ।
जय जय जय हे मातृभूमि, जय जय स्वराष्ट्र सम्मान ।

देवता – भूमिः ।

असंबाधं बध्यतो मानवानां,
यस्यां उद्वतः प्रवतः समं बहुः ।
नाना वीर्या औषधीर्या बिभर्ति,
पृथिवी न प्रथतां राध्यता नः ।।

अथर्व–१२. १. १२

तेरे नेह भरे आँचल में मानव हम सब हैं निर्बाध ।
तेरा आशिष पाकर सारे मिट जाते अवरोध, विषाद ।
प्रगति करें या विगति, गोद में तेरे हैं हम सभी समान ।
कामधेनु बन नाना औषधि अक्षय देती है धन–धान ।

यार्णवेधिसलिल मग्र आसीद्,
या मायाभि रन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्यां हृदये परमे व्योमन्त् सत्ये
नावृतः पृथिव्याः । सा नो भूमिः
त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।।

अथर्व० १२–१

अतल महार्णव में डूबी थी मही मरुस्थल बनी सकल ।
दिव्य मनीषी देवों का सदियों का श्रम तप हुआ सुफल ।
माटी हुई सुहागिन अंतर में था शाश्वत कोष भरा ।
नयी भावना राष्ट्र शक्ति की जगी, श्यामला हुई धरा ।

देवता–भूमिः ।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु
ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यात् ।
क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रानु न्नयामि स्वानहम् ॥

अथर्व० १२. १.
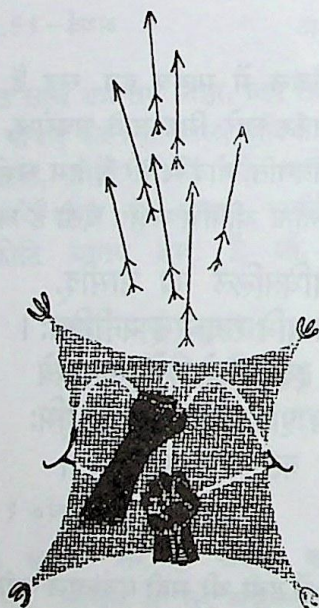
जो शत्रु हमारे अधिनायक का करते द्वेष-भरा अपमान ।
उनका गर्व चूर्ण करने को बनते हैं हम वज्र समान ।
ब्रह्म तेज से पुण्य भूमि के, है अजेय यह देश महान् ।
तेजवन्त पुत्रों ने पाया है जग माता का वरदान ।

देवता-भूमिः ।

यास्ते प्राची प्रदिशो या उदीची
यास्ते भूमे अधराद्यच पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु,
या निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥

अथर्व - १२.१.३१.
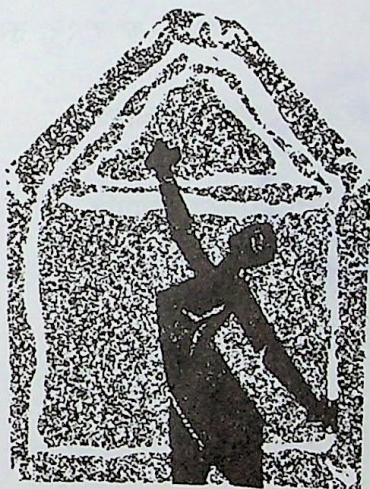
पूरब-पश्चिम दक्षिण-उत्तर विस्तृत सभी दिशाएँ ।
अविजित रहें मातृभूमि की आसमुद्र सीमाएँ ।
विश्व-शान्ति के लिए राष्ट्र का सफल रहे अभियान ।
शान्ति-दूत बन विचरें त्रिभुवन, करें विश्व-कल्याण ॥

देवता–भूमिः।

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
सानो धेह्यभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।

अथर्व–काण्ड १२, सूक्त १

हम सब पृथ्वीपुत्र धरित्री,
माता तू सबकी है।
है विराट पर्जन्य प्रजापति,
माँ तू सौख्य सुभग की है।
पावन तेरे चरण मध्य,
मूर्धन्य सभी हैं ज्योतिष्मान्।
तेरे आशिष से ही जननी
जन-जन का होता कल्याण।

।।ओ३म्।।

ऋषिः—**ऋजिश्वा** (सरल गति करनेवाला) ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**प्रगाथः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

या उस्त्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवारुज ॥

—साम पूर्वार्चिक ६।९।८

(या उस्त्रियाः) जो किरणें **(अश्मनि अन्तः)** बादल की ओट में छिपी हुई थीं, **(यः)** जिस [इन्द्र] ने **(गाः अपि)** उन गायों को भी **(ओजसा)** अपने बल से, **(निर्-अकृन्तत्)** बादलों को छिन्न-भिन्न कर, मुक्त कर दिया, वह तू **(गव्यम् अश्व्यं व्रजम्)** गायों और घोड़ों की इस शाला को **(अभि-तत्निषे)** चारों ओर से घेरे खड़ा है, **(धृष्णो)** ऐ राक्षसों को दबा देनेवाले! **(वर्मी इव)** कवच पहने योद्धा की तरह **(आ-रुज)** इन राक्षसों की सेनाओं का नाश कर।

ब्रह्म वर्म

१. असुरों ने भय-त्रास तु[illegible] कितना दिखलाया,
तेरे रवि में कुटिल र[illegible] ने ग्रहण लगाया।
वृत्रासुर ने मेघ-तिमिर [illegible] जाल बि[illegible],
आँखों के सामने, अँधे[illegible] तेरे [illegible]।
दिव्य किरण-रूपी सभी गायें तेरी हर गईं।
काम आसुरी शक्तियाँ, छिपकर अपना कर गईं॥

२. तेरे आगे चली नहीं असुरों की माया,
ब्रह्म कवच बन गई चर्म की तेरी काया।
सूर्य ज्योति-सी दीप्त हो गई तेरी छाया
तूने बनकर इन्द्र, वृत्र को मार भगाया।
छूट गईं गायें तथा, मुक्त अश्व भी पाश से।
छिन्न-भिन्न बादल हुए, हँसी उषा आकाश से॥

३. ब्राह्मण में यह ज्ञान-किरण बन तिमिर मिटातीं,
राजन्यों के विजय-अश्व ये फिर बन जातीं,
कामधेनु बन यही तृप्ति की नदी बहातीं,
पूर्ण रूप से ये द्विजत्व तुझ में विकसातीं।
इन्हीं इन्द्रियों के सदा—निग्रह से तू आर्य है,
तू अपना यजमान है—और स्वयं आचार्य है॥

(श्री जगन्नाथ प्रसाद, ८ पौष, १९९४)